जुलाई - सितंबर २००३

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कहानियां

डॉ. भगीरथ बड़ोले

उर्मि कृष्ण

डॉ. वासुदेव

गोवर्धन यादव

परशु प्रधान

अलका अग्रवाल सिगतिया

आमने–सामने
अलका अग्रवाल सिगतिया

सागर–सीपी
सुरेश 'सलिल'

१५ रुपये

वाराणसी विकास प्राधिकरण, वाराणसी

नगर के सर्वांगीण विकास एवं वाराणसी की गरिमा कायम रखने हेतु नागरिकों से अपेक्षा है कि :-

1. हेरिटेज जोन के अंतर्गत मकान निर्माण कतिपय प्रतिबंधों के साथ ही अनुमन्य है, हेरिटेज जोन की जानकारी आप विकास प्राधिकरण से कर सकते हैं,
2. अवैध कालोनी जिसका ले आउट पास नहीं है, उसमें प्लाट क्रय न करें क्योंकि अवैध कालोनियों में मानचित्र स्वीकृत नहीं हो सकता।
3. प्राधिकरण से भवन मानचित्र स्वीकार कराकर ही निर्माण करें अन्यथा अनधिकृत निर्माण किये गये भवनों को गिराया जा सकता है और साथ में धारा-26 के अंतर्गत अभियोजन दायर किया जा सकता है तथा सक्षम न्यायालय द्वारा अर्थदंड भी लगाया जा सकता है।
4. भवन निर्माण हेतु किसी भी प्रकार का भूखंड क्रय करने के पूर्व विकास प्राधिकरण से निम्न के संबंध में जानकारी अवश्य कर लें :-
   (क) मास्टर प्लान में भूमि का उपयोग आवसीय है अथवा नहीं।
   (ख) भूमि किसी आवासीय योजना में अधिगृहित तो नहीं है।
   (ग) भू-विन्यास सबडिवीजन प्लान स्वीकृत है अथवा नहीं।
   (घ) भूमि राजकीय संस्थान एवं नजूल की संपत्ति तो नहीं है।
   (ङ) भवन मानचित्र स्वीकृत होने में कोई अन्य बाधा तो नहीं है।
5. विकास प्राधिकरण द्वारा आबंटित भूमि/भवन अन्य व्यक्ति से तब तक क्रय न करें जब तक मूल आंबटी संपूर्ण धनराशि जमा करके अपने नाम रजिस्ट्री न करा ले। बिना ट्रांसफर अनुमति प्राप्त किये कोई भूमि/भवन क्रय न करें।
6. किराया क्रय किश्तें, किराया, लीजरेंट, विकास शुल्क व शमन शुल्क का भुगतान समय पर करें अन्यथा जिलाधिकारी द्वारा वसूली कराये जाने पर 10 प्रतिशत और अधिभार देना होगा।
7. राजकीय विभागों से भी अपेक्षा की जाती है कि उत्तर प्रदेश नियोजन एवं विकास अधिनियम 1973 की धारा-14 के प्रावधानों के अंतर्गत निर्माण करने से पूर्व प्राधिकरण से अनुमति प्राप्त कर लें अन्यथा उनके विरुद्ध भी नियमानुसार कार्यवाही की जायेगी।
8. विकास प्राधिकरण द्वारा आंबटित पूर्ण किये गये भूखंडों/भवनों की रजिस्ट्री तत्काल करा लें अन्यथा अगले वित्तीय वर्ष से वर्तमान बाजार दर से स्टैंप इ्यूटी देय होगी।
9. जिन आंबटियों को भूखंड, भवन संबधी किसी प्रकार की समस्या हो तो सचिव / संपत्ति विभाग से संपर्क करें।

(के. डी. सिंह)	*(आर. विक्रम सिंह)*	*(बी. राम)*
उप सचिव	सचिव	उपाध्यक्ष

जुलाई-सितंबर २००३
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'
संपादिका
मंजुश्री
संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी
अशोक वशिष्ठ
प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक
अरुण सक्सेना
जी-२४, शकुंतला, सेक्टर-६,
वाशी, नवी मुंबई-४०० ७०३
फोन : २७८२ ०९९१

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड
कृपया सदस्यता शुल्क
चैक (कमीशन जोड़कर),
मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर
द्वारा केवल 'कथाबिंब' के नाम ही भेजें.

● संपर्क ●
ए-१० 'बसेरा',
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : २५५१ ५५४१ व २५५५ ५८२२
टेलीफैक्स : २५५५ २३४८
e-mail : kathabimb@yahoo.com

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु
१५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

।। ५ ।। लगाव / डॉ. भगीरथ बड़ोले
।। १० ।। पत्थर की अहिल्या / उर्मि कृष्ण
।। १५ ।। प्रेत-मुक्ति / डॉ. वासुदेव
।। १९ ।। अपना नीड़ - अपना आसमान / गोवर्धन यादव
।। २३ ।। लावारिस / परशु प्रधान
।। २६ ।। जब अरुषि कहेगी ...! / अलका अग्रवाल सिगतिया

लघुकथाएं

।। ९ ।। मेरा वोट कहां गया...? / महीपाल भूरिया
।। १८ ।। दिल और दिमाग / के. जी. बालकृष्ण पिल्लै
।। २२ ।। महत्व / नरेंद्र कौर छाबड़ा
।। ३५ ।। अस्तित्व की तलाश / मुकेश शर्मा
।। ५० ।। थावरी और थावरा / महीपाल भूरिया
।। ५१ ।। मूलमंत्र / राकेश 'चक्र'
।। ५१ ।। चक्का जाम / डॉ. संत कुमार टंडन 'रसिक'

गीत / ग़ज़लें / कविताएं

।। १४ ।। ग़ज़लें / अशोक आलोक
।। २५ ।। एक शबनमी सुबह / देवदत्त वाजपेयी
।। ४२ ।। कविताएं / सुरेश 'सलिल'
।। ४९ ।। अपवाद / डॉ. संत कुमार टंडन 'रसिक'
।। ४९ ।। आदमी मरता क्यों है ? / लालजी 'राकेश'
।। ४९ ।। वर्षों से / महेश कटारे 'सुगम'
।। ५० ।। ग़ज़लें / मनोज 'अबोध'
।। ५० ।। डूब के आंसू के सागर में / राकेश 'चक्र'
।। ५१ ।। ग़ज़ल / मुकेश शर्मा
।। ५४ ।। ग़ज़लें / सत्यदेव संवितेंद्र

स्तंभ

।। २ ।। लेटरबॉक्स
।। ४ ।। 'कुछ कही, कुछ अनकही'
।। ३१ ।। आमने-सामने / अलका अग्रवाल सिगतिया
।। ३८ ।। सागर-सीपी / सुरेश 'सलिल'
।। ४४ ।। पुस्तक-समीक्षाएं

लेटर बॉक्स

"कथाबिंब" नियमित रूप से पढ़ रहा हूं. कठिनाइयों के बीच भी आप जिस समर्पण-भाव से पत्रिका निकाल रहे हैं, वह स्तुत्य है. मॉरिशस से लौटकर मैं इसके लिए अलग से अवश्य ही कुछ करूंगा.

आपका यह विचार सही है कि जब वोट की खातिर लोग अल्पसंख्यकों के प्रति सहानुभूति जताते हैं और उनके समर्थन में आंख मीचकर झंडा फहराते हैं तो यह भी एक तरह की सांप्रदायिकता ही है. बहुसंख्यकों के हित की बात करने को हिंदुवादी/सांप्रदायिक करार दिया जाता है. धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सब धर्मों के लोगों को निष्पक्षता से देखना है. एक की देखी और दूसरों की अनदेखी करना धर्म निरपेक्षता नहीं है. मतभेद को मिटाने का रास्ता संवाद ही है. मुंह फुलाकर बैठ जाना नहीं.

सूर्यकांत नागर

८१, बैराठी कॉलोनी नं. २, इंदौर-४५२ ०१४

"कथाबिंब" का जन.-जून ०३ अंक प्राप्त हुआ. आवरण कलात्मक है, अच्छा लगा. आप पत्रिका के संपादन में जो श्रम कर रहे हैं, वह पत्रिका की उम्र लंबी करेगा ऐसा मेरा विश्वास है. मित्रों का एक पूरा परिवार संपादन-प्रकाशन में सहयोग कर रहा है, यह बड़ी बात है.

डॉ. धर्मेंद्र गुप्त, सं. 'विषयवस्तु'

२७४ राजधानी एन्क्लेव, रोड नं. ४४,
शकूरबस्ती, दिल्ली-११० ०३४

आपने सर्वत्र छाये महा अंधकार के प्रति बिना कोई समझौता किये जो अथक 'ज़ेहाद' छेड़ रखा है उस हेतु आपको हज़ारों लाखों शुभकामनाएं.

मैं आपकी पत्रिका की सदस्यता अपने मित्रों को भेंट करना चाहता हूं. इसलिए कृपया 'कथाबिंब' के कुछ पुराने अंकों की प्रतियां शीघ्र मुझे भेज दें.

के. पी. साहू

सुपरिन्टेन्डेट, सर्किल जेल, बारीपाड़ा-७५७ ००२ (उड़ीसा)

"कथाबिंब" जनवरी-जून ०३ के संपादकीय को संदर्भित करते हुए मैं यह कहना चाहता हूं कि बात को (सेक्युलरिज़्म) आधा-अधूरा छेड़ा जाय तो तरह-तरह की भ्रांतियां खड़ी हो जाती हैं, मतभेद भी समाप्त नहीं होते और जो उद्देश्य था, प्रभाव उसके ठीक विपरीत हो जाता है. आप 'कथाबिंब' के माध्यम से सेक्युलरिज़्म, धर्म आदि की चर्चा को विस्तार से चला सकते हैं, जो सार्थक भी होगी और उद्देश्यपूर्ण भी.

गजेंद्र यथार्थ

डब्ल्यू. पी.-३३/सी, पीतम पुरा, दिल्ली-११० ०८८.

"कथाबिंब" का जन-जून ०३ अंक मिला. इस अंक में 'भारत में भारत को खोजिए' पुनर्प्रकाशन के बावजूद भी सामयिक और हितकर है. इन समस्त बिंदुओं पर राष्ट्र के कर्णधारों को सोचना ही होगा. यह वस्तुतः 'वैज्ञानिक लेख' नहीं 'वैज्ञानिक दृष्टि युक्त' लेख है जिसके निश्चित रूप से दूरगामी लाभ होंगे. अंक में आकर्षण का दूसरा विषय है - संपादकीय में दूसरे 'डॉट' के बाद भाई हसन जमाल प्रकरण. मैं उसे विस्तार से जानना चाहूंगा. कृपया पत्राचार की फोटो प्रतियां उपलब्ध करायें. उनकी मानसिकता अगर वाकई संकुचित है तो यह एक सोचनीय स्थिति है. 'आमने/सामने' में रामनाथ शिवेंद्र और 'सागर/सीपी' में लवलीन ने प्रभावित किया.

बलराम अग्रवाल

एम-७०, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२

"कथाबिंब" का जनवरी-जून ०३ अंक प्राप्त हुआ. आपका संपादकीय बड़ा ही विचारोत्तेजक होता है, इसलिए पत्रिका मिलते ही उसे पढ़ गया. संपादकीय टिप्पणी पढ़कर मुझे तत्काल बधाई देने की इच्छा हुई, इसलिए शीघ्रता में यह पत्र लिख रहा हूं.

जनाब हसन जमाल से हुए आपके पत्राचार और उत्तर प्रत्युत्तर से आपने जो निष्कर्ष निकाला है वह आज के संदर्भ में विचारणीय ही नहीं, गंभीरता से शोचनीय है. 'बेस्ट बेकरी' कांड पर भी आपकी बेबाक टिप्पणी चिंतकों एवं विधि के अभिरक्षकों के लिए चुनौती है.

शिवदंश पांडेय

लीलाधाम, ३/३०७, न्यू पाटलीपुत्र कॉलोनी,
पटना-८०० ०१३.

"कथाबिंब" का संयुक्तांक मिला. आप बड़ी मेहनत और मशक्कत से इतनी सुरुचिपूर्ण, आकर्षक और विचारोत्तेजक पत्रिका निकाल रहे हैं. इसके लिए साधुवाद. मुंबई जैसी महानगरी में जहां लोग कहते हैं कि माया का ही बोलबाला है वहां सरस्वती की इतनी बड़ी साधना काबिले तारीफ़ है. पूर्व की भांति पूर्ण अंक का कलेवर भी शानदार है, सामग्री का चयन सतर्कतापूर्वक किया गया है. उम्मीद है भविष्य में निरंतर पत्रिका का स्तर ऊंचा ही होता जायेगा.

श्रीरंग

७/१२, ई. डब्लू. एस. प्रीतमनगर कॉलोनी, इलाहाबाद

"कथाबिंब" का जनवरी-जून ०३ का अंक मिला. हृदय से आभारी हूं. इस बाजारवाद के युग में आपकी सदाशयता की कीमत नहीं लगायी जा सकती. आपका आलेख 'भारत में भारत को खोजिए : बनाम विकसित भारत का ब्लू प्रिंट' कई अनसुलझे सवालों के समाधान सामने रखता है.

अनिरुद्ध सिन्हा

गुलजार पोखर, मुंगेर-८११ २०१ (बिहार)

❈ "कथाबिंब" के जन-जून ०३ अंक का कलात्मक आवरण और हृदय छू लेने वाली कहानियों की बौछार, बहुत खूब ! 'कुछ कही, कुछ अनकही' के अंतर्गत कहानियों पर टिप्पणियां पढ़कर अच्छा लगा. राजीव सिंह की कहानी 'चंद्रग्रहण' आज की टी. वी. संस्कृति तथा उससे उपजे रातोंरात अमीर बन जाने का ख्वाब ! बहुत ही जीवंत रचना है यह ! 'रावलपिंडी एक्सप्रेस' के माध्यम से, हमारे देश के कुछ लोगों के भीतर सांप्रदायिकता की उठ रही 'ज्वाला' को बख़ूबी चित्रित किया है सुधीर अग्निहोत्री ने.

पुस्तक के ऊपर लेखक का नाम हटाकर अपने नाम से छापने की राजनीति लेखक समाज में फैल रही मानसिक विकृति का द्योतक है. फिल्म निर्माता भी गरीब रचनाकारों का शोषण कर उनकी रचनाओं को सस्ते में ख़रीद लेते हैं और अपने नाम से फिल्मांकन कर डालते हैं. इस तरह की कहानियां छापकर 'कथाबिंब' अपनी अलग पहचान बना रही है.

'सागर-सीपी' के अंतर्गत लवलीन के विचार जितने खुलकर सामने आने चाहिए थे, नहीं आ पाये. उन्होंने कहा है, 'विवाह संस्था अपने आप में प्रेम का नाश करने वाली व्यवस्था है'. यह मात्र मुट्ठी भर उन लोगों की कुंठित मानसिकता है जिन्हें समाज का अनुशासन पसंद नहीं. जिन्होंने पैसे के बल पर 'प्रेम' को बाजारू बना रखा है. भारतीय संस्कृति विदेशों में भी सम्मान की दृष्टि से देखी-परखी जाती है. प्रगति का मतलब नैतिक पतन कदापि नहीं हो सकता.

❈ **सिद्धेश्वर,**
अवसर प्रकाशन, पो. बॉ. २०५,
करविगहिया, पटना ८०० ००१.

❈ "कथाबिंब" (जनवरी-जून ०३) के अंक में विशेष आलेख के तहत डॉ. अरविंद जी के विचार जानने को मिले. उन्होंने जो सुझाव दिया है उसमें लाखों करोड़ों का ख़र्च नहीं आने वाला. बेकार वस्तुओं से अगर आम आदमी को थोड़ा सुख मिल सके तो प्रयास करने में संकोच कैसा ! मैं तो कहूंगी, इस आलेख को हर प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छापा जाये ताकि ज्यादा से ज्यादा लोग इस ठोस परिकल्पना के बारे में जानें व पहल करें. कहीं पढ़ा था - सितारों व लहरों अथवा हथौड़े व दरांती का झंडा चांद पर फहराने की दौड़ में आज असीम धन एवं बुद्धिबल व्यय किया जा रहा है. यह अपरिमित धन एवं बुद्धिबल आज पृथ्वी के लाखों-करोड़ों लोगों की भूख, गरीबी और दुख-दर्द दूर करने में व्यय किया जा सके तो कितना अच्छा हो. रूस और अमेरिका में, साम्यवाद और स्वातंत्र्यवाद में अपनी एकांत महानता सिद्ध करने की होड़ लगी है पर इस होड़ में अंततः जीतेगा वही, जो इस पृथ्वी से भूख, रोग तथा अभावों को दूर कर, उसे सुख शांति व समृद्धि प्रदान करेगा.

❈ **माला वर्मा**
हाजीनगर-७४३ १३५ (प. बंगाल)

'शेष' के संपादक भाई हसन जमाल का पत्र :

अरविंद जी,

आप जैसे अन्ध साम्प्रदायिक से
दिमागी नहीं हो सकता. आप में इतना
भी साहस नहीं है कि सम्वाद कर सकें
ये कचरा सामग्री मेरे काम की नहीं.
अभी मेरी आंखें खुली हैं और दिमाग
सलामत. अन्ध और सांप्रदायिक
शक्तियों के कुप्रचार से मेरी कलम
नहीं बदलने वाली.
मुझे आपकी सोच पर अफसोस हो रहा है.
कृपया भविष्य में कथाबिंब न भेजें.
वैसे भी मैं उसे पढ़ता नहीं हूं.
और अब तो कतई नहीं पढ़ूंगा.
जिस रास्ते पर आप लोग चल पड़े हैं
वो हमारे लिये तो घातक है ही.
देश के हित में भी नहीं है.

हसन जमाल
2/9/02

❈ "कथाबिंब" (जन.-जून ०३) का अंक मिला. लघु आकार की चुस्त-दुरुस्त कहानियों के कारण अंक निर्विवाद रूप में प्रभावी एवं संवेदनशील कहानियों का गुलदस्ता जैसा लगा. सुधीर अग्निहोत्री, डॉ. विवेक द्विवेदी एवं उत्तम कांबले की कहानियों ने विशेषतः उद्वेलित एवं आंदोलित किया. पीढ़ियों का अंतराल एवं संवेदनाओं का अकाल आज की त्रासदी बन गयी है. सर्वश्री होलकर एवं हबीब कैफ़ी की लघुकथाएं भी प्रभावी हैं. कविताएं एवं गीत-ग़ज़ल सिर्फ पठनीय ही हैं !

आपका संपादकीय सामयिक चिंतन का दस्तावेज़ है. आज की व्यवस्था की चरमराती रीढ़ से आप दुखी लग रहे हैं. 'शेष' पत्रिका के संपादक की सोच पूर्णतः एकपक्षीय है जो पत्रकारिता की निष्पक्षता पर प्रश्नचिन्ह है.

एक वैज्ञानिक होते हुए आपकी साहित्य के प्रति रुचि आश्चर्यचकित करती है. 'भारत में भारत को खोजिए', एक चिंतन परक सामयिक आलेख है. इसे आप अख़बारों में एवं मीडिया में प्रसारित करायें. मैं चाहूंगा कि 'सम्यक' में भी छपे. आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी !

❈ **मदन मोहन उपेंद्र,** सं. 'सम्यक'
ए-१०, शांति नगर, मथुरा-२८१ ००१

(कुछ और प्रतिक्रियाओं के लिए कृपया पृष्ठ ५२ देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

वर्ष २००३ का यह जुलाई-सितंबर अंक है. इसके बाद इस वर्ष का अभी एक और अंक प्रकाशित होना शेष है. तमाम कोशिशों के बावजूद भी पत्रिका नियमित नहीं हो पा रही है. जबकि, इधर लेखकीय और पाठकीय सहयोग भरपूर मिलता रहा है. प्रकाशनार्थ आने वाली कहानियों और अन्य रचनाओं की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है. इसके चलते काम का बोझ बढ़ा है. संभव है कि जितना समय पत्रिका को देना चाहिए मैं नहीं दे पा रहा हूं. तथापि आर्थिक संकट पहले जैसा ही है. बहरहाल पूर्ण विश्वास है कि जल्दी ही स्थितियां बदलेंगी !

●

इस अंक की पहली कहानी 'लगाव' (भगीरथ बड़ोले) एक छोटे-से बच्चे की कहानी है जिसे एक कुत्ते के पिल्ले से दीवानगी की हद तक लगाव हो जाता है. यहां तक कि पूसी के घायल हो जाने पर वह खाना-पीना भी छोड़ देता है. उर्मि कृष्ण की कहानी 'पत्थर की अहिल्या' एक ऐसी युवती की कहानी है जो अभिमानी पिता के सामने अपना मुंह नहीं खोल पाती. राधा की शादी 'बड़े घराने' में बहुत धूमधाम से कर दी जाती है. राधा के अय्याश पति की प्लेन दुर्घटना में मौत हो जाती है. राधा पिता के घर आ जाती है. पिता भी अधरंग के शिकार हो जाते हैं. यहां राधा के जीवन में प्रभात राम बन कर आता है. अगली कहानी 'प्रेत-मुक्ति' (वासुदेव) नारी-उत्पीड़न की कहानी है. पहली बार शहर आयी, लकड़ी बेचने वाली एक लड़की को एक आदमी झांसा देकर अपने घर के अंदर ले आता है. इसी तरह बरसों पहले उसने लड़की की मां के साथ भी कुकर्म किया था. किंतु इस मर्तबे बीमार मां एक अभेद्य दीवार बन कर आड़े आ जाती है. गोवर्धन यादव की कहानी दो पीढ़ियों के टकराव को एक नये ढंग से प्रस्तुत करती है. नयी पीढ़ी द्वारा अपने नीड़, अपने आसमान का चयन करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में दर्शाया गया है. परशु प्रधान की नेपाली कहानी 'लावारिस' लकवाग्रस्त एक मां की कहानी है. मां को अस्पताल से डिस्चार्ज़ मिल गया होता है क्योंकि वहां अब और कुछ नहीं हो सकता. किंतु दो बेटों में से कोई उसे घर नहीं ले जाना चाहता. किंतु मां को देखने अमरीका से आयी बेटी विवश हो, साथ ले जाने के लिए तैयार हो जाती है. परंतु डॉक्टर सलाह नहीं देता. अंततः मां की मृत्यु से ही यक्ष-प्रश्न का समाधान निकलता है. अलका अग्रवाल की कहानी 'जब अरुषि कहेगी...' भी बेमेल विवाह की कहानी है. लेकिन यहां परिस्थितियां कुछ अलग हैं. प्रेमिका आयशा को रीतेश की मां बहू के रूप में स्वीकार नहीं सकतीं इसलिए उसका विवाह प्रिया से करा दिया जाता है. सच्चाई जब सामने आती है तो प्रिया ठगी-सी रह जाती है. मैके आकर रहने पर भाई-भाभी प्रिया के साथ ठीक बर्ताव नहीं करते. इसके आगे की कहानी के लिए आपको अगले अंक का इंतज़ार करना पड़ेगा ...

●

कई पाठकों ने जानना चाहा है कि 'शेष' पत्रिका के संपादक ने ऐसा क्या लिखा था ! भाई हसन ज़माल का पत्र लेटरबॉक्स में ज्यों का त्यों छापा जा रहा है. लगता है कि इस 'शेष प्रसंग' को यहीं शेष कर दिया जाये तो ही बेहतर होगा.

●

थोड़े दिन पहले, सोमवार २५ अगस्त को, मुंबई में, ताज़ होटल के पास गेटवे ऑफ इंडिया और झवेरी बाज़ार में बम विस्फोट हुए जिनमें काफी लोग मारे गये और अनेक हताहत हुए. इन टैक्सी-बमों को बनाने वाले पकड़े भी गये हैं. 'सबसे पहले', 'सबसे तेज' की स्पर्धा के चलते किसी टी. वी. चैनल ने चार स्थानों पर और किसी ने छह स्थानों पर बम विस्फोट किये जाने की सूचना दी थी. ऐसे अवसरों पर ग़लत ख़बर का प्रसारण अफ़वाहें पैदा करता है. भारतीय चैनलों को बीबीसी से सबक लेना चाहिए कि समाचार की विश्वसनीयता जांचने के बाद ही उसे प्रसारित करें. इस गंभीर हादसे को लेकर यह कोशिश भी की गयी कि इसे गुजरात का बदला करार किया जाये. मैं जानना चाहता हूं कि मानवाधिकार आयोग इस प्रकरण को लेकर क्यों चुप्पी साधे हुए है ? हमारे सारे मानवाधिकार 'एक्टिविस्ट' भी क्यों चुप हैं ? चार राज्यों में हुए चुनावों के परिणामों ने भी मीडिया की विश्वसनीयता पर एक बार फिर प्रश्न-चिन्ह लगाया है. मतदाताओं ने सारे 'प्री-पोल' और 'एक्ज़िट पोल' सर्वेक्षणों को ग़लत सिद्ध कर दिया.

●

इस अंक के छपते-छपते समाचार आया है कि 'बेस्ट बेकरी' मामले में गुजरात उच्च न्यायालय ने गुजरात सरकार की दोबारा सुनवाई की प्रार्थना को ख़ारिज कर दिया है और उन ग़ैर-सरकारी संस्थाओं की भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगाया है जो बार-बार इस मुद्दे को उछाल रहे थे. साथ ही पत्रकारों, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और तीस्ता सेतलवाड तथा मिहिर देसाई जैसे वकीलों को लताड़ लगायी है कि वे न्याय की समानांतर प्रक्रिया न चलायें. किसी भी नियम या कानून के अंतर्गत उसकी आज्ञा नहीं दी जा सकती.

●

पड़ोसी देश पाकिस्तान के साथ रिश्तों में कुछ सुधार दिखाई दे रहा है. हमें कामना करनी चाहिए कि इन 'मधुर संबंधों' की उम्र लंबी हो. आमीन !

अरविंद

कहानी

लगाव

डॉ. भगीरथ बड़ोले

अब ऐसा लगता था कि पूसी ही दीपू की ज़िंदगी बन चुकी है. पूसी के बिना उसे हर पल सूना-सूना अनुभव होता है. इसीलिए वह उसे एक पल भी छोड़ने को तैयार नहीं है. मां-बापू और दादी मां कितने भी प्रयत्न करके हार गये कि दीपू एक जानवर के पीछे इतना दीवाना न बने, लेकिन वह है कि पूसी को किसी भी क्षण जानवर मानने को तैयार नहीं है. पूसी उसके इतने करीब है कि उसका हर दुख-दर्द उसे अपना ही दुख-दर्द लगता है. इसीलिए जब भी पूसी आंगन में इधर से उधर दौड़ लगाती है, उसे बहुत भला लगता है. पर जब कभी पूसी उकसाने के उपरांत भी अपनी ज़गह से हिलती नहीं, वह चिंतित हो जाता है.

पूसी - कुतिया की एक छोटी सी पिल्ली - के साथ दीपू के इस तरह जुड़े अस्तित्व का अनुभव करके घर के तमाम लोग बहुत चिंतित थे. करीब छः महीने पहले ही दीपू ने इसे तलाश किया था और अपने घर ले आया था. उस दिन सबसे पहली आपत्ति दादी मां ने प्रकट की थी - 'अरे कहां से लाया इसे ?'

'शामू के घर से. उसके यहां कुतिया ने चार बच्चे दिये हैं. ये भूरे बालों वाली पूसी मुझे बहुत अच्छी लगी और मैं इसे उठा लाया.'

'पर इसे भीतर क्यों ला रहा है ? बाहर रख, बाहर.' दादी मां ने आदेश के स्वर में कहा.

'अरे वाह दादी मां, तुम भी कैसी बात कर रही हो ? बाहर दूसरे कुत्ते इसे झिंझोड नहीं देंगे?'

'तो हम क्या करें ? तू लाया ही क्यों ? जा, छोड़ आ इसे वहीं, जहां से लाया है.'

'मैं इसे छोड़ने के लिए थोड़े ही लाया हूं.' दीपू ने ज़वाब दिया.

'तो क्या गले लगायेगा इसे ?' दादी मां चिढ़कर बोलीं.

'हां...गले लगाऊंगा. देखो, ऐसे...' कहते हुए दीपू ने सचमुच ही पूसी को अपने से चिपका लिया.

यह दृश्य देखकर दादी मां से नहीं रहा गया - 'अरे...रे..., छी-छी, इतने गंदे जानवर को गले लगा रहा है ?'

'गंदा जानवर कहां ? वहां शामू के घर हम लोगों ने पूसी को अच्छी तरह नहला लिया था.'

तभी भीतर से आवाज आयी - 'क्या हो गया मां जी ?' स्वर विनीता का था.

दीपू की मां विनीता को जब भी लगा है कि दादी मां और दीपू के बीच कुछ खटपट शुरू हो गयी है, वह सदा बाहर आकर दोनों में सुलह कर देती थी. आज भी जब उसने सुना कि दोनों में कोई विवाद छिड़ गया है, वह तत्काल बाहर निकल आयी.

विनीता को देखते ही दादी मां बोल पड़ी - 'अब देख तो बहू, ये दुष्ट जाने कहां से कुत्ती का पिल्ला उठा लाया ! कहता है साथ में रखूंगा. अब जो तेरा पूरा घर गंदा हो जाये, तो मुझे मत कहना. मेरे लिए तो उस गंदगी में रहना ही मुश्किल हो जायेगा.'

विनीता ने पूछा - 'क्यों रे दीपू, ये सब क्या चक्कर है?'

ये चक्कर नहीं मम्मी, पूसी है पूसी. इसे शामू के घर से लाया हूं. निर्भीक दीपू ने ज़वाब दिया.

'पर इसे लाया क्यों ?'

'मैं इसके साथ खेलूंगा.'

'तो शामू के घर ही खेल आता, यहां क्यों लाया? जानता नहीं कि हम लोग घर की साफ़-सफ़ाई का कितना ध्यान रखते हैं ?' इसके यहां रहने पर घर गंदा नहीं होगा?' विनीता ने दादी मां का पक्ष-समर्थन किया.

विनीता के तर्क का उत्तर तर्क से देते हुए दीपू ने कहा- 'वाह, घर कैसे गंदा होगा ! जब मैं खुद इसकी देखरेख करूंगा, तो घर गंदा कैसे होगा ?'

'और ज़ब स्कूल जायेगा, तब कौन सम्हालेगा इसे ?'

'इसे भी साथ ले जाऊंगा.'

'पर इसे शामू के घर छोड़ क्यों नहीं आता ? देख बेटा, जो बच्चे समझदार होते हैं, वे ऐसा काम नहीं करते और बड़ों का कहना मानते हैं.' विनीता ने दीपू को पुनः पटाना चाहा.

'पर मेरे हर दोस्त के घर ऐसे छोटे-छोटे बच्चे पले हुए हैं. जब सभी लोग इन्हें पालते हैं तो मैं क्यों न पालूं ? मेरे मन में भी बहुत दिनों से यह इच्छा उठ रही थी. अब तो मैंने इसका नाम भी रख दिया है - पूसी.'

विनीता ने देखा कि दीपू किसी भी तरह से मानने वाला नहीं है तो उसने दादी मां को समझाना शुरू कर दिया - 'अब आप भी जाने दीजिए इस बात को. कुत्ते का बच्चा ही तो है, एक नन्हा-सा प्राणी. इसे पालने पर भगवान जी खुश ही होंगे. ...और फिर, कितना कुछ खर्चा करायेगा यह ? मैंने सुना है कि बचपन से पाले ये बच्चे बड़े होकर इतने वफ़ादार हो जाते हैं कि

कुछ कहना ही क्या! जाने कितने ही किस्से प्रसिद्ध हैं, जिसमें ये अपनी जान की बाजी लगाकर मनुष्य की सहायता करते सुने और देखे गये हैं ?'

दादी मां के सामने यह बात साफ़ हो गयी कि मां-बेटे दोनों एक ओर हो गये हैं तो अब उनकी नहीं चलेगी. इसलिए मन ही मन कुछ निश्चय करके उन्होंने प्रकट रूप में इतना ही कहा कि उनके बेटे संजीव के आने तक दीपू इसे घर के भीतर नहीं लाये और पूजा घर की ओर तो हरगिज़-हरगिज़ नहीं. संजीव के आने पर ही अंतिम फैसला होगा. दादी मां के इस निर्णय से मां-बेटे दोनों सहमत हो गये.

दीपू पूसी को लेकर आंगन में खेलने लगा. पहले उसने उस एक कटोरे से दूध पिलाया, फिर उसके लिए बाहर किसी सुरक्षित ज़गह पर आसन लगा दिया. जब विनीता ने उसे स्कूल जाने की याद दिलाई तो उसने साफ़-साफ़ कह दिया कि वह अपने पापा के आने तक स्कूल नहीं जायेगा, पूसी को सम्हालेगा. आज वह स्कूल चला गया तो हो सकता है कि पूसी घर के भीतर चली जाये और दादी मां फिर नाराज़ हो जायें. वैसे दीपू के मन में असली भय यह था कि कहीं उसके स्कूल जाते ही दादी मां उसकी प्यारी सी पूसी को किसी तरह से बाहर न निकाल दें. इसीलिए दीपू ने स्कूल न जाकर पूसी को अपनी आंखों के सामने ही रखने का निश्चय कर लिया. किंतु पूसी को वश में रखना भी तो मुश्किल का काम था. आंगन में भागते-दौड़ते पूसी घर में भी प्रवेश कर जाती थी और तब उसे बाहर निकालने के लिए दीपू को कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी. इसी के साथ दादी मां और मां की फटकार भी सुननी पड़ती थी - सो अलग से !

शाम होने पर संजीव जैसे ही घर आया, उसने दीपू को किसी कुत्ते के पिल्ले के साथ खेलते देख आश्चर्य प्रकट किया - 'ये क्या हो रहा है दीपू ?'

'ये पूसी है पापा. मैं लाया हूं इसे, शामू के घर से. अब अपने साथ ही रखूंगा.'

'अच्छा-अच्छा...' कहते हुए संजीव घर के भीतर घुसे ही थे कि दादी मां ने टोक दिया - 'देखो संजू, ये तेरा छोरा बड़ा शरारती हो गया है. जाने कहां से यह पिल्ली उठा लाया और अब कहता है कि इसे साथ ही रखूंगा.'

'तो क्या हो गया मां? बच्चे तो बच्चों के साथ खेलते ही हैं. देखो, दोनों कितने खुश हैं.'

'पर ये पिल्ली घर जो गंदा करेगी!' दादी मां ने अपने जीवन मूल्यों को प्रकट करना चाहा, तो संजीव ने बदले हुए जमाने की सच्चाइयां सामने रखते हुए कहा - 'तो सफ़ाई करवा देंगे. पर छोटी-छोटी बातों के लिए बच्चों का मन तोड़ना कोई अच्छी बात नहीं है. फिर आजकल हर घर में कुत्ते के बच्चे पालने का फैशन हो गया है.'

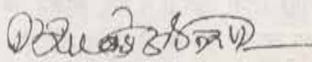

६ जून १९४२

एम. ए. (हिंदी), पी-एच.डी.

लेखन : *सन् १९६० से साहित्य की विविध विधाओं - गीत-कविता, कहानी-एकांकी, व्यंग्य-आलोचना, समीक्षा-शोध निबंध, आदि में समान रूप से निरंतर.*

प्रकाशन : *देश की विविध पत्र-पत्रिकाओं और आकाशवाणी द्वारा निरंतर प्रकाशन-प्रसारण; अद्यावधि विविध विधाओं में स्फुट रूप से ५०० से अधिक रचनाएं प्रकाशित; 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियां' तथा 'गुड़िया का ब्याह' कृतियां प्रकाशित. अनेक कृतियों (लगभग दस) में सहलेखन (आलेख, ग़ज़लें, व्यंग्य संकलित). संपादन सहयोग भी.*

पुरस्कार : *देश की अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित, पुरस्कृत. अद्यावधि पंद्रह बार अखिल भारतीय स्तर पर लेखन में रचनाएं पुरस्कृत; म. प्र. साहित्य परिषद द्वारा 'रविशंकर शुक्ल पुरस्कार'.*

संप्रति : *विक्रम वि. वि. के हिंदी अध्ययन केंद्र में आचार्य (प्रोफेसर) और अध्यक्ष.*

अंततः दादी मां परास्त हो गयीं और बड़बड़ाती चली गयीं. अपने पापा को अपने पक्ष में पाकर दीपू की खुशी का ठिकाना न रहा. अब वह पूसी को घर के भीतर लाने में भी नहीं हिचकिचाया. आखिर पापा से हरी झंडी जो मिल गयी थी. पर उसने पूसी को इतना ज़रूर बता दिया कि कौन सा कमरा दादी मां का है. जहां कोने में उनका पूजाघर बना हुआ है. पूसी उस ओर भूल कर भी न जाये. इसके बाद दीपू ने पूसी को अपना कमरा दिखाया, जहां उसे हर तरह की आज़ादी रहेगी.

पता नहीं, दीपू के संकेतों को पूसी समझ पायी अथवा नहीं. पर कुछ देर बाद ही दीपू ने देखा कि उछलती-भागती पूसी दादी मां के पूजा घर की ओर चली जा रही है. दीपू तेजी से उधर भागता हुआ गया और पूसी को वापिस ले आया. गनीमत यही थी कि उस समय दादी मां कहीं और गयी हुई थीं, वरना उस समय दीपू की खैर नहीं थी.

दीपू ने पापा से कहकर पूसी के लिए एक सुंदर सा गल पट्टा और जंजीर खरीद ली. हर दिन वह उसे अपने साथ नहलाता, खिलाता और सुलाता था. पूसी के पीछे वह सचमुच ही दीवाना हो गया था. अब तो पूसी को लेकर दादी मां की रोज की बड़बड़ भी उसके मन को आशंकित नहीं करती थी. दादी मां बड़बड़ाती रहतीं और दीपू कभी अपने कमरे में तो कभी आंगन में पूसी के साथ खेलता रहता था. वैसे स्कूल जाने को उसका मन नहीं करता था, पर स्कूल जाना भी ज़रूरी था, वरना पापा नाराज हो जाते. ऐसे समय वह पूसी को जंजीर से बांधकर अपनी मां से कह जाता कि वह उसका बराबर ध्यान रखें.

पर एक दिन स्कूल से आने पर जब दीपू ने पूसी को नहीं पाया, तो उसके मन में तरह-तरह की आशंकाएं दौड़ने लगीं. जंजीर खुली पड़ी थी और पूसी का कहीं पता नहीं था. उसने हर कमरा देख लिया, आंगन और पिछवाड़ा देख लिया, पर सचमुच ही पूसी कहीं नहीं थी. इसके बाद तो दीपू ने घर भर में वो कोहराम मचाया कि घर के सभी लोग परेशान हो गये. विनीता ने समझाया - 'तू इतना परेशान क्यों हो रहा है दीपू ? मिल जायेगी पूसी.'

'नहीं-नहीं, अब नहीं मिलेगी पूसी. ज़रूर दादी मां उसे कहीं छोड़ आयी हैं.'

तनिक फटकार के स्वर में विनीता ने कहा -'दीपू...ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए. भला दादी मां को क्या पड़ी है कि वे पूसी को कहीं छोड़ आयें ?'

'वे शुरू से ही उसे पसंद नहीं करती थीं. चाहती रही हैं कि पूसी यहां रहे ही नहीं. वही दुश्मनी निकाली है उन्होंने.'

'ये सही नहीं है दीपू. दादी मां ने ऐसा कुछ नहीं किया. आखिर मैं भी तो घर में ही थी. ऐसा कुछ होता तो क्या मुझे पता नहीं चलता?' विनीता ने दीपू को समझाने का प्रयास किया.

'पर मैं उसे पट्टा बांधकर गया था. फिर किसने खोला उसका पट्टा ?' दीपू ने विनीता के सम्मुख एक प्रबल तर्क प्रस्तुत किया.

अब तक संजीव भी आ चुका था. प्रकरण की जांच करते हुए संजीव ने कहा कि पूसी का पट्टा किसी ने खोला नहीं है. यदि कोई पट्टा खोलता, तो पट्टा खुला मिलता, इस तरह से बंद नहीं. हो सकता है जल्दबाजी में दीपू ही उसे ठीक से बांधकर नहीं गया होगा और अवसर मिलते ही पूसी ने किसी तरह पट्टे से अपने गले को मुक्त कर लिया होगा. इस प्रकार दीपू का यह तर्क निराधार है और इसमें किसी भी अन्य का दोष नहीं है.

'तो फिर कहां गयी होगी पूसी ?' दीपू ने अत्यंत चिंतित स्वर में पूछा.

तभी अचानक दीपू को पूसी की 'कू-कू' आवाज सुनाई दी. परिचित स्वर सुनकर दीपू के कान खड़े हो गये. आवाज बाथरूम से आ रही थी, जिसका दरवाज़ा बाहर से बंद था. दीपू लपक कर उस ओर गया और जैसे ही उसने दरवाज़ा खोला, पूसी बाहर निकल आयी. दीपू ने उसे अपने से चिपका लिया. उसकी आंखों में खुशी के आंसू छलछलाने लगे. बड़ा ही विभोर कर देने वाला दृश्य था वह.

पूसी के प्रति घर के लोगों का लगाव अब धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा था. दीपू के पापा संजीव भी कभी-कभी छुट्टी के दिन पूसी के साथ दौड़ लगा लिया करते थे, तो कभी पूसी विनीता के इर्द-गिर्द घूमकर उससे भी वैसा ही लाड़ पा लेती थी, जैसा दीपू को मिलता रहा है. हां, अगर पूसी भाती नहीं थी, तो केवल दादी मां को ही. इसीलिए जब कभी पूसी उनके पूजा घर में घुस जाती थी, दादी मां पूरे घर को आसमान पर उठा लेती थीं. तब बड़ी मुश्किल से उन्हें मनाया जाता था. दादी मां के साथ ही घर के सब लोग इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पूजा घर का दरवाज़ा उस समय भूल से भी खुला न रहे, जब वे वहां नहीं हों.

न जाने कितनी ही बार स्कूल में दीपू ने अपने दोस्तों के सामने पूसी की तारीफ़ के पुल बांधे हैं. वह दो चार बार अपने दोस्तों को अपने घर लाकर पूसी के कमाल दिखाकर सिद्ध कर चुका है कि पूसी बहुत समझदार प्राणी है, जो उसके हर संकेत को पहचानने में माहिर है. दोस्तों को प्रभावित होते देख वह खुशी से फूला नहीं समाता था. अब दीपू के दोस्तों के बीच पढ़ाई से अधिक पूसी के किस्से मशहूर होते जा रहे थे.

एक बार दीपू को स्कूल में पता चला कि उसके कुछ दोस्तों की निगाह पूसी पर कुछ ज्यादा ही जमती जा रही है और वे उसे चुराने की योजना बना रहे हैं, तो दीपू का पारा सातवें आसमान पर चढ़ गया. बड़ी मुश्किल से अन्य दोस्तों ने बीच-बचाव किया और पूसी को चुराने की योजना बनाने वाले दोस्तों ने अपने कान पकड़कर सौगंध खायी कि वे न तो कभी ऐसा करेंगे, न इस बारे में आगे कुछ सोचेंगे, तब कहीं जाकर दीपू ने उन्हें छोड़ा.

दूसरे ही दिन दीपू उन दोस्तों को अपने घर लाया, उन्हें पूसी के कमाल दिखाये, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि पूसी ऐसा काम केवल उसी का इशारा मिलने पर करती है. अगर कोई उसे ले जाने की कोशिश करेगा, तो वहां पूसी किसी और के इशारे पर कोई कमाल नहीं दिखायेगी, बल्कि अपने आप भाग कर वापिस चली आयेगी. इसीलिए पूसी को चुराने पर किसी को कुछ मिलने वाला नहीं है. उलटे चुराने वाले से हमेशा हमेशा के लिए लड़ाई हो जायेगी. यह बात अपने दोस्तों के गले अच्छी तरह उतार कर दीपू इस तरफ से निश्चिंत हो गया.

अब तक पूसी को लेकर दीपू के दिमाग में एक अजीब-सा पागलपन सवार हो चुका था. रात-दिन हर ज़गह बस पूसी की ही बात और पूसी की ही चिंता. इसे जानकर विनीता और संजीव सोचने लगे कि यदि दीपू पूसी के साथ इसी तरह रमा रहा, तो वह अपना मन पढ़ाई में कैसे लगायेगा ? दीपू की नज़र में पढ़ाई से अधिक महत्त्वपूर्ण थी पूसी और घर के लोगों की नज़र

में पूसी से अधिक महत्त्वपूर्ण थी पढ़ाई. इसीलिए कभी विनीता तो कभी संजीव, दीपू को तरह-तरह से यह बात समझाने का प्रयास करते कि अब उसे अपना अधिक से अधिक समय पढ़ाई में लगाना चाहिए.

आख़िर अनेक बार समझाने पर दीपू की समझ में भी आने लगा कि पढ़ाई तो ज़रूरी है, क्योंकि परीक्षाएं पास आ गयी हैं. पर पढ़ाई के समय वह पूसी को अकेला नहीं छोड़ेगा. मन में यही निश्चय कर अब दीपू पढ़ाई के लिए भी थोड़ा-थोड़ा बैठने लगा, पर पूसी को साथ लेकर. ऐसे समय पूसी दीपू की गोदी में बैठी रहती और दीपू एक हाथ पूसी पर और दूसरे हाथ में किताब लेकर पढ़ता रहता. पढ़ाई के बीच जब कभी पूसी उछलकर कहीं और जाने का प्रयास करती, तो दीपू उसे तत्काल पकड़ लाता, अपनी गोद में बैठा लेता और फिर से पढ़ाई शुरू कर देता.

पर उस दिन सब कुछ अप्रत्याशित ही हुआ. किसी को अनुमान ही नहीं था कि ऐसा कुछ होगा. दीपू स्कूल गया था, संजीव ऑफिस जा चुका था, दादी मां खाना खाकर दोपहर की लेट लगा रही थीं और विनीता किचन की साफ़ सफ़ाई में तल्लीन थी. एकाएक पूसी को आंगन का दरवाज़ा खुलने और किसी के आने की आहट अनुभव हुई. वह दौड़ती हुई आंगन में निकल गयी और वहां किसी अपरिचित को पाकर उसने भौंकना शुरू कर दिया. पूसी की आवाज़ सुनकर विनीता चौकन्नी हो गयी और दादी मां की नींद खुल गयी. वे बिस्तर पर पड़े पड़े ही चिल्लायीं - 'अरी बहू, जरा देख तो, ये पूसी क्यों भौंक रही है ? इस निगोड़ी ने तो मेरा सोना ही हराम कर दिया.'

विनीता ने बाहर आकर देखा कि पोस्टमैन चिट्ठी लेकर आया है. उसने पूसी को भीतर जाने का आदेश दिया और पोस्टमैन से चिट्ठी लेकर उससे जाते समय बाहर का गेट लगाने का आग्रह करके चिट्ठी लेकर भीतर आ गयी. चिट्ठी दीपू के नानाजी की थी, इसीलिए विनीता अपने सब काम छोड़कर अपने पिता द्वारा भेजी गयी चिट्ठी पढ़ने में मगन हो गयी.

एकाएक पूसी के जोर से भौंकने के साथ ही कुछ और कुत्तों के भौंकने और फिर पूसी के च्याऊं-च्याऊं-भरे दर्दनाक स्वर को सुनकर विनीता तेजी से बाहर निकली. उसने देखा कि आंगन के खुले दरवाज़े से दो-तीन कुत्ते भीतर घुस आये हैं और उन्होंने पूसी को झिंझोड़ कर रख दिया है. विनीता तेजी से उस ओर लपकी. उसने बड़ी मुश्किल से कुत्तों को बाहर भगाया और बाहर का गेट लगाकर मुड़कर पूसी को देखा. पूसी लगभग बेदम हो चुकी थी. उसके पूरे शरीर से खून छलछला रहा था. तभी दादी मां भी बाहर आ गयीं. पूसी की हालत देखते ही दादी मां ने पूछा - 'ये कैसे हो गया री ?'

'पता नहीं. शायद पोस्टमैन ने बाहर का गेट खुला छोड़ दिया था. तो मौका पाकर बाहर के कुत्ते भीतर आ गये.'

'पर इसकी हालत बहुत बुरी लग रही है.' पूसी को देखकर चिंतित दादी मां ने पूछा.

'हां, मां जी, समझ में नहीं आता, अब क्या करें ?'

शोरगुल सुनकर पड़ोस के दो सज्जन भी आ गये. उन्होंने इन दोनों को हिम्मत बंधाई, फिर पूसी के शरीर को साफ़ पानी से धोया, उसे हल्के हाथ से पोंछा और घावों पर कोई मरहम लगाया. विनीता के कहने पर एक व्यक्ति संजीव को बुला लाया. आते समय संजीव के साथ पशुचिकित्सक भी थे. उन्होंने पूसी को अच्छी तरह से देखा और उसे एक इंजेक्शन लगा दिया. पूसी अभी भी अपनी ज़गह लगभग बेदम पड़ी थी, पर डॉक्टर ने सबको विश्वास दिलाया कि वह ज़िंदा है. वैसे खतरा तो बना हुआ है, पर वे लोग ज्यादा चिंता न करें. शाम को वे उसे फिर देखने आयेंगे. तब जो भी स्थिति होगी, वैसा इलाज किया जायेगा.

डॉक्टर के जाने के बाद संजीव घायल पूसी को उठाकर भीतर ले आये और कमरे के एक कोने में सुला दिया. इस समय दादी मां, पूसी की जीवन रक्षा के लिए अपने पूजा कक्ष में बैठकर ईश्वर से प्रार्थना कर रही थीं और विनीता तथा संजीव पूसी के पास कुर्सियों पर बैठे हुए चिंतामग्न थे. दोनों के दिमाग में पहली चिंता पूसी के बचाव की थी और दूसरी चिंता थी दीपू की, जो स्कूल से आने पर पूसी को इस हाल में पाकर जाने क्या कर बैठे !

स्कूल से लौटकर दीपू ने जैसी ही घर के आंगन में कदम रखा, वहां छाये हुए सन्नाटे ने उसे शंकित और भयभीत कर दिया. न मां बाहर आयी, न पूसी. उसे बहुत आश्चर्य हुआ. एकाएक उसने पूसी के कराहने की आवाज सुनी. वह तेजी से भीतर दौड़ा और वहां की स्थिति देखकर हतप्रभ रह गया.

'ये...ये क्या हो गया मेरी पूसी को ?'

अपने मन पर पड़े हुए, मन भर के बोझ को हटाने में असमर्थ-सी विनीता कुछ बोल नहीं पायी, संजीव ने ही बताया कि कैसे क्या हुआ है.

दीपू लगातार रोता जा रहा था और बोलता जा रहा था- 'पूसी...ओ पूसी...! देख, मैं आ गया हूं ! इन सबने तेरा ध्यान नहीं रखा न !...देख लेना, अगर तुझे कुछ हो गया, तो मैं किसी से कभी बात नहीं करूंगा. सबसे हमेशा-हमेशा के लिए कुट्टी कर लूंगा !' फिर एक क्षण चुप रहने के बाद वह कहता - 'पापा मम्मी...देखो न, ये मेरी पूसी को क्या हो गया है?'

विनीता ने कहा - 'सब ठीक हो जायेगा बेटा, थोड़ा धीरज रखो.'

'ऐसे कैसे ठीक हो जायेगा ? आप सब तो बैठे हुए हैं. कुछ करते क्यों नहीं ?'

विनीता ने समझाया- 'देख बेटा, जो भी हो सकता है, वह सब हम कर रहे हैं. अभी शाम को डॉक्टर फिर आयेंगे. उन्होंने

लघुकथा

मेरा वोट कहां गया...?

महीपाल भूरिया

मकना वसुनिया झाबुआ जिले के गोपालपुरा गांव में निवास करता था. अनावृष्टि के कारण वह साल का आधा समय कभी गुजरात तो, कभी राजस्थान, कभी दिल्ली तो कभी भोपाल मज़दूरी की तलाश में जाया करता था.

कई प्रादेशिक व लोकसभा चुनाव आये और गये. पर उसे वोट डालने का अवसर नहीं मिला. १९९८ का प्रादेशिक चुनाव आया. उसकी बड़ी इच्छा थी कि इस चुनाव में वोट डाल कर, उस पार्टी को सत्ता से अपदस्त अवश्य करेगा जो कृषि, शिक्षा, रोज़गार आदि के विकास के लिए अनेक प्रतिज्ञाएं तो करती है, पर वास्तविक धरातल पर कुछ होता नहीं है.

२९ जनवरी १९९८ को वह गुजरात में, सूरत के पास एक गांव में सड़क निर्माण का कार्य कर रहा था. मकना ने अपने ठेकेदार से निवेदन किया कि वोट डालने के लिए झाबुआ जाने की अनुमति दे. पहले ठेकेदार ने उसे अनुमति देने से इनकार कर दिया. मकना वसुनिया ने फिर निवेदन किया कि उसे यह पवित्र काम संपन्न करने के लिए तीन ही दिन की छुट्टी दे. एक दिन जाने के लिए, एक दिन वोट डालने और अंतिम दिन लौटने के लिए. ठेकेदार ने आखिर अनुमति दे दी. मुंबई-दिल्ली जनता से वह शाम को मेघनगर उतरा. सवारी जीप से वह गोपालपुरा पहुंचा और दूसरे दिन वह वोट डालने संदला अपने मतदान-केंद्र पहुंचा. नाम चेक करवाने पर पाया उसका नाम नहीं था.

तीसरे दिन उदास मन से उसने दिल्ली-मुंबई देहरादून एक्सप्रेस पकड़ी और सूरत के उसी गांव में काम की साइट पर उदास मन से पुनः लौट आया....

'मातृधाम', मेघनगर, जिला : झाबुआ - ४५७ ७७१ (म. प्र.)

दोपहर में भी कहा था कि पूसी जल्दी ही ठीक हो जायेगी.'

संजीव ने भी विनीता का समर्थन करते हुए बताया कि पूसी की हालत पहले से बेहतर है. पहले वह बेसुध पड़ी थी और अब उसके कराहने की आवाज बता रही है कि वह सुध में आ रही है. फिर अभी डॉक्टर आने ही वाले हैं. देख लेना, सब कुछ कितनी जल्दी ठीक-ठीक हो जाता है !

किंतु एक क्षण बाद ही दीपू ने चिंतित स्वर में पूछा- 'शाम तो हो गयी, डॉक्टर आये क्यों नहीं ? पापा आप जाकर उन्हें बुला लाइए न !'

'बस, आने ही वाले हैं. मुझसे शाम को आने का कहकर गये थे.'

दीपू कभी कराहती पूसी को देखता तो कभी बाहर के दरवाज़े तक जाकर निराश मन से लौटकर फिर पूसी के पास चला आता. सड़कों पर बिजली के बल्ब जल उठे थे, पर डॉक्टर का कहीं पता नहीं. अब दीपू से नहीं रहा गया - 'आप जाओ न पापा, जाओ न! देखो, मेरी पूसी की हालत बिगड़ती जा रही है? जाने कैसी तकलीफ हो रही होगी इसे. डॉक्टर को जल्दी बुला लाओ न...!'

अंततः थोड़ी देर और रास्ता देखने के बाद विनीता के आग्रह पर संजीव डॉक्टर को लाने चला गया. अब विनीता ने दीपू से कहा कि वह स्कूल से थका-हारा आया है, इसीलिए पहले हाथ-पांव धो ले और दूध पी ले. तब तक डॉक्टर भी आ जायेंगे. किंतु दीपू ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया- 'जब तक मेरी पूसी ठीक नहीं हो जाती, न कुछ खाऊंगा-पिऊंगा, न यहां से हटूंगा.' दीपू ने पूसी को अपनी गोद में सुला लिया था.

कुछ समय और बीत गया. दीपू ने अधीर होकर पूछा- 'मम्मी, कितनी देर हो गयी. अभी तक पापा डॉक्टर को लेकर आये क्यों नहीं ? जरा बाहर जाकर देखो तो...!' विनीता जानती थी कि अभी कोई नहीं आया है. फिर भी अपने बच्चे का मन रखने के लिए वह दरवाज़े तक गयी. उसे संजीव डॉक्टर के साथ आते हुए दिखाई दिये. विनीता ने तत्काल दीपू को यह बात बतायी, तो दीपू के चेहरे पर खुशी की हल्की सी लहर दौड़ गयी.

डॉक्टर ने पूसी की हालत देखी. उसे एक इंजेक्शन फिर लगाया और उसके घावों पर एक नयी ट्यूब से मरहम लगा दिया.

उस रात दीपू एक क्षण के लिए भी सोया नहीं. बीच में एक दो बार उसने डॉक्टर का दिया हुआ मरहम और लगा दिया. दीपू के जागने के कारण संजीव और विनीता भी वहीं बैठे रहे. नींद तो दादी मां को भी नहीं आ रही थी, पर वे यहां न आकर अपने कमरे में ही जागती रहीं.

सुबह होने पर डॉक्टर फिर आ गये. तभी पूसी ने अपनी आंखें खोलकर हर तरफ़ देखा और दीपू पर अपनी करुण दृष्टि जमा ली. पूसी की हालत में सुधार देखकर डॉक्टर ने कह दिया कि अब खतरा टल चुका है. यह ट्यूब रोज लगाते रहना है. इससे कुछ ही दिनों में शरीर के सब घाव भर जायेंगे और पूसी बिल्कुल ठीक हो जायेगी. यह सुनकर सबने संतोष की सांस ली.

चारों ओर सूरज की रोशनी का साम्राज्य हो चुका था, जिसकी चमक इस समय दीपू की आंखों में साफ़-साफ़ झलक रही थी.

२८६, विवेकानंद कॉलोनी,
फ्रीगंज, उज्जैन-४५६०१० (म. प्र.)

कहानी

पत्थर की अहिल्या

राधा राही मुस्करा दीं · सच मैं गा न सकूंगी.

- क्यों... ?

- बरसों हो गये गाना छोड़े.

- कैसा भी गाइए. कुछ भी सुनाइए प्लीज. एक तरुणी फिर आग्रह कर उठी.

- गाना ? यहां तो केवल भजन ही गाना है. यह तो मंदिर का प्रांगण है न. राधा ने कहा.

गाना, भजन शुरू करने के पहले कुछ क्षण का मौन छा गया और उस मौन में राधा राही के दिल पर क्या कुछ नहीं बीत गया. संगीत के तीन अक्षरों में उसके बीते जीवन के तीन लोक समाहित हैं. स्वर फूटने से पहले मिसेस राही राधा में समा गयी थी. चंचल नटखट राधा. किशोरवय में धरती पर पांव नहीं पड़ते थे. चौदह वर्ष की ने मैट्रिक पास कर लिया और कॉलेज पहुंच गयी थी. पढ़ने से अधिक शौक गाने का था. अपने स्कूल में वह कई संगीत कार्यक्रमों में भाग लेती थी. हालांकि पिता को यह बात कतई पसंद नहीं थी कि उनके नामी परिवार की बेटी कहीं भी स्टेज पर नाचे-गाये.

वैसे इस बात का पता भी तब चला जब एक गाने में भाग लेने के लिए उसे विशेष ड्रेस की ज़रूरत पड़ी. तब बात पिता माधवकांत के कानों तक पहुंची. उन्होंने बेटी को सामने बुलाकर पूछा था.

- राधा यह मैं क्या सुन रहा हूं.

राधा चुप खड़ी रही.

- मैं क्या पूछ रहा हूं ?

- मेरी कुछ समझ नहीं आया बाबूजी !

- तुम स्कूल में गाने में भाग ले रही हो ?

- हां, हमारी शिक्षिका नहीं मान रहीं.

- पहले भी गाने में पार्ट लिया है ?

- हां, राधा ने धीरे से कहा.

- तुम्हें स्कूल पढ़ने भेजा जाता है. नाचने गाने नहीं. समझी.

राधा भरी आंखों से पिता के सामने से लौट गयी. वह पिता के क्रोधी स्वभाव को जानती थी. उसका तो क्या उसकी मां का भी साहस नहीं होता था पति से कुछ कहने का.

दूसरे दिन राधा स्कूल गयी और उसने गाने में भाग लेने के लिए शिक्षिका से साफ़ मना कर दिया.

टीचर राधा के स्वर को खोना नहीं चाहती थी. राधा के स्वर में लोच था. दर्द था. मधुरता थी. जब राधा गाती तब स्कूल के बड़े तो क्या बच्चे भी चित्रलिखित से बैठे रह जाते.

अपनी शिक्षिका के बहुत कहने तथा यह आश्वासन देने पर कि वह उसके पिता को भी मना लेगी राधा ने स्कूल के कार्यक्रमों में भाग लेना आरंभ कर दिया था. पिता की नाराज़गी का शिकार होने के बाद अब वह अपने किसी भी कार्यक्रम की सूचना पिता को नहीं लगने देती.

अपनी अति व्यस्तता के कारण राधा के पिता को कभी समय नहीं रहता कि वे अपनी इकलौती बेटी के स्कूल में जाकर देखें या उसकी शिक्षिका से बात करें. एक बार पिता ने उसकी वार्षिक प्रगति का कार्ड देख लिया था. कार्ड में 'संगीत में विशेष रुचि' भरा देख वे फिर भड़क उठे थे. अबकी राधा पर ही नहीं उसकी मां पर भी खूब बरसे थे.

उर्मि कृष्ण

अपनी रुचि और पिता के विरोध के संघर्ष के बीच पढ़ती राधा कॉलेज तक आ गयी थी. कॉलेज में आकर उसमें कुछ साहस आया. विरोध करने की शक्ति भी आ गयी. जब उसे पहली बार अपने ही रचे गीत को रेडियो पर गाने का अवसर मिला तब उसने अपनी मां से कहा था,

- मां बाबूजी को समझाओ न. भला गाने में क्या बुराई है ?

- बेटी तुझे कैसे समझाऊं ये ठकुर घराने के लोग हैं. उन्होंने अपने बचपन में संगीत को उन महफिलों में सुना है जो भली औरतों के योग्य होती ही नहीं थीं. ये कभी नहीं समझ पायेंगे कि संगीत एक दिव्य कला भी है. गीत तभी कंठ से फूटता है जब रोम-रोम दर्द से झंकृत हो उठता है.

- मां मुझे गाना अच्छा लगता है. क्या करूं.

- बेटी शादी के बाद अपना शौक पूरा कर लेना. भगवान तेरे शौक पूरे करें.

मां बेटी दोनों भीगी आंखों से बतियाते सो गयी थीं.

❑

औरतें राधा का मुंह देख रही थीं. किसी ने मंदिर का घंटा बजाया तो राधा अपने में लौटी और अति मधुर धीमे स्वर में गीत फूटने को आया · याद नहीं आ रहा कुछ !

उसके होठों पर शब्द थे और मन पिछली वादियों में दौड़ रहा था...

पिता ने बेटी के बढ़ते कदम देखे तो उसके लिए शीघ्रता से एक दूल्हा ढूंढ़ शादी तय कर दी. राधा पिता की जेल से छूटकर जल्दी स्वतंत्र होना चाहती थी. इसलिए उसने शादी का कोई विरोध नहीं किया. उसने एक बार यह भी नहीं कहा कि मुझे बी.ए. पास कर लेने दो. वह तो कल्पनालोक की तितली बन उड़ने लगी थी. अपने दूल्हे के लिए राधा ने जो कल्पनाएं की थीं वे दुनिया के सारे अच्छे पुरुषों का मिश्रण थीं. वह कृष्ण सा कमनीय, अर्जुन सा पराक्रमी और राम सा एक-पत्निव्रता हो, पृथ्वीराज सा वीर हो. उनके बीच का प्यार ढोला-मारू की कथा बन जाये.

राधा को उसकी कल्पना का पुरुष कैसे मिल सकता था क्योंकि रिश्ता ढूंढ़ने में पिता की एकमात्र शर्त रही कि वह उनकी खानदान की बराबरी का हो. जिसमें उनकी नाक ऊंची हो. उन्होंने अपनी तरफ़ से तो ऊंची खानदान और सुदर्शन पुरुष देखा. पढ़ा-लिखा भी. किंतु बड़े बाप के उस बेटे के सर्व अवगुण, गुण माने गये. उन गुणों का बखान रिश्ता तय कर आने के बाद पिता माधवकांत ने गर्व से छाती फुला फुलाकर किया था. गोरा चिट्टा, छह फुट, एम.एस-सी. पास, वर्ष में तीन कार के मॉडल बदल लेता है. सभी बड़े-बड़े क्लबों का मेंबर है. घुड़सवारी, कार रेस, स्कीईंग और सांडों के युद्ध का शौकीन. पक्का निशानेबाज, छह बोतलें भी चढ़ा रखी हों तो भी निशाना नहीं चूकता उसका. मजाल है जो कार रेस में कोई उससे आगे आ जाये. वह उसे तुरंत गोली मार दे.

उसे तो ढेरों लड़कियां घेरे रहती हैं. कई तो उसे पाने के लिए मरने मारने तक को तैयार हो गयीं. हमारा तो भाग्य समझो जो हमारी लड़की को उसने बिना देखे ही स्वीकार कर लिया. यह हमारे नाम का असर है समझी. राधा तो मूक थी पर मां, बेटी के सुखद जीवन के लिए संदेहों से घिर गयी थी.

- देखिए, बड़े खानदान के चक्कर में हमारी बेटी का जीवन न नष्ट हो जाये.

- तुम चुप रहो. पति ने उसे डांट दिया. तुम क्या जानों खानदान क्या होता है.

अपने छोटे खानदान के लिए राधा की मां को सदा इसी तरह अपमान का घूंट पीकर चुप रह जाना पड़ता था. वह क्रोध से भर उठी थी. जी किया कह दे... वे पैसों में ही तो आपसे कम हैं, दुर्गुणों में आपकी बराबरी में नहीं आ सकते. इसलिए सदा छोटे रहेंगे. पर एक ही संतान, वह भी बेटी के लिए सदा नीचा देख ज़हर का घूंट पीने वाली मां आज भी तिलमिला कर रह गयी थी.

बेटी राधा की शादी खूब धूमधाम से हो गयी. प्रदर्शन की कोई भी कसर पिता ने नहीं छोड़ी. उस शादी के वैभव की बात लोग राधा की चुनरी का रंग सफ़ेद हो जाने के बाद भी बरसों तक करते रहे.

१४ अप्रैल, हरदा (म. प्र.)

एम. ए. (राजनीति शास्त्र), साहित्य रत्न, मांटेसरी ट्रेड (बाल शिक्षा का डिप्लोमा)

लेखन : *पिछले तीस वर्षों से निरंतर लेखन. हास्य व्यंग्य, यात्रावृत्त, कहानी, उपन्यास, बाल साहित्य, रेडियो वार्ताएं तथा प्रहसन, लेख व फीचर संपादन.*

प्रकाशन : *'वन और पगडंडियां' (उपन्यास); 'मन यायावर,' 'भारत : एक भावयात्रा' (यात्रावृत्त); 'महल दुमहले', 'नये सफेद गुलाब', 'अग्निरथ', 'धुएं से ऊपर' (कहानी संग्रह); 'बीमार पड़ने का सुख' (हास्य-व्यंग्य); 'दीदी इंदिरा', 'खेल खेल में विज्ञान', 'सबका प्यारा', 'मैं परी बनूंगी', 'चांद का गुस्सा बादल पे उतरा' (बाल पुस्तकें).*

पुरस्कार : *'वन और पगडंडियां' (उपन्यास), 'मन यायावर' (यात्रावृत्त), 'नये सफेद गुलाब' (कहानी संग्रह), हरियाणा साहित्य अकादमी से पुरस्कृत.*

प्रसारण : *आकाशवाणी इंदौर, जालंधर, चंडीगढ़, रोहतक तथा कुरुक्षेत्र से अनेक रचनाएं प्रसारित. दिल्ली तथा जालंधर दूरदर्शन से साक्षात्कार, अन्य विधाओं की रचनाएं प्रसारित.*

संप्रति : *कहानी-लेखन महाविद्यालय का संचालन तथा 'शुभ तारिका' मासिकी का संपादन.*

विशेष : *कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी की छात्रा द्वारा उर्मि कृष्ण की कहानियों पर लघु शोध प्रबंध लिखा गया है. आप कई संस्थाओं द्वारा सम्मानित भी की गयीं.*

स्वर्ण आभूषणों में लदी, हीरे-मोतियों की चमक के नीचे जब राधा का परिचय पति से हुआ...

- सुना है तुम्हें गाने का बहुत शौक है.

पति के मुखारबिंद से पहले ही दिन ऐसे शब्द सुन राधा निहाल हो उठी थी.

- सुनाओ फिर कुछ.

राधा आश्चर्यचकित पति का मुंह ताकने लगी थी. वह क्या सुनाये ? उसने कुछ तैयारी तो की नहीं थी. ऐसे अवसर की उसे

सपने में भी कल्पना नहीं थी.

- सुनाओ. पति ने ऑर्डर दिया.

राधा ने गाना शुरू किया. - 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई...'

राधा का मधुर मंद स्वर उठा भी नहीं था कि पति ने उसके मुंह पर तमाचा जड़ दिया.

- तुम्हें बड़े घरों की जरा भी तमीज नहीं ? हमारे घरों में घर की बहू बेटियां नहीं गातीं. गाने और रोने के लिए किराये पर औरतें बुलाई जाती हैं.

राधा उसी क्षण से पत्थर की अहिल्या बन गयी.

पति नाम का जीव उसे हर रात रौंदकर चला जाता. राधा हाथी के पैरों तले कुचली फूलमाला की तरह बन जीने लगी थी.

मात्र छह मास में एक अनहोनी घट गयी. राधा के पति का प्लेन लंदन जाते हुए दुर्घटनाग्रस्त हो गया. राधा का श्रृंगार उतरवा दिया गया. अपने सुहाग चिन्हों को उतार राधा ने अपने को बहुत हलका अनुभव किया. पिछले छह माहिनों में उसे अपने सुहाग चिन्हों से प्यार नहीं घृणा हो गयी थी.

जिस श्रृंगार में प्यार की सुंगध न बसी हो वह बोझा मात्र ही लगते हैं. सुहाग और सुहाग चिन्ह तभी शुभ और प्यारे लगते हैं जब उनमें प्रियतम का प्रेम प्रतिबिंबित होता है.

विधवा अपसगुनी समझी जाने वाली बहू राधा, पिता के घर भेज दी गयी. मां के आंचल के नीचे राधा ने भरपूर शांति अनुभव की पर पिता की तानाशाही अभी भी उसके पैरों में बेड़ियां डाले हुए थी.

राधा ने आगे पढ़ने की इच्छा प्रकट की तो पिता ने उसे झिड़क दिया.

- तुम्हें आखिर किस बात की कमी है. हमारे पास इतना कुछ है कि तुम्हें सात जन्मों तक कमी न आयेगी.

- पिताजी मुझे धन की नहीं अपने जीवन को सार्थक करने की चाह है.

- चुप रह लड़की. तू समझती भी है जीवन की सार्थकता क्या होती है.

राधा चुप हो गयी. इन पुरुषों में केवल पाषाण का हृदय स्थापित है. मां की गोद में सिर छुपा वह खूब रोती. मां की आंखें भी झरझर बरसा करतीं. वह बेटी को किसी तरह धीर बंधाने का प्रयत्न करती रहती.

राधा के पिता अपने पढ़े-लिखे रईस होने का रौब दिखाने के लिए घर में दो तीन दैनिक पत्र और तीन चार महंगी पत्रिकाएं मंगाते थे. राधा उन्हीं को पढ़कर अपना समय बिताती. बाकी दुनियां का ज्ञान भी वह इसी से हासिल करती. इन्हीं में विज्ञापित और समीक्षित पुस्तकों-पत्रिकाओं को उसने मंगाना आरंभ कर दिया. पिता से छुपकर उसने आगे की पढ़ाई भी आरंभ कर दी. अपनी पुरानी सखी सहेलियां जो अब उससे आगे पढ़ने लगी थीं उनसे मिलती और अपनी कठिनाइयां हल करती. पुरानी सहेलियों में अब फूलकुंअर ही बची थी और तो सब अपनी ससुराल जा चुकी थीं. फूलकुंअर के पिता विदेशों में रह कर थोड़े आधुनिक हो गये थे और लड़की को उच्च शिक्षा दिला रहे थे. यही फूलकुंअर राधा की गाइड का काम कर रही थी.

❑

फूलकुंअर अब तो न जाने कहां होगी. राधा के चेहरे पर पुरानी यादों के घाव उभर आये थे जिसे कोई भी महिला पहचान नहीं सकी थी. पहचानती कैसे एक प्रतिष्ठित आई. ए. एस. ऑफीसर की पत्नी, दो प्यारी बिटियाओं की मां सुखी संपन्न नौकरों चाकरों से भरी गृहस्थी की मालकिन के चेहरे पर क्या दुःख उभर सकता है, कोई कैसे पहचान सकती थी.

- गाओ न मिसेस राही ? बड़ी नम्रता और हौले से कीर्ति ने राधा से मनुहार की.

- हां अब तक तो कोई भजन याद आ ही गया होगा. युवा विधवा कुंती ने कहा.

राधा अपने अतीत से लौटी. हां मैं कोई भजन ही तो याद कर रही थी, यहां बैठकर कोई फिल्मी गाना तो नहीं सुना सकती न.

उसके साथ अन्य औरतें भी मुस्करा दीं.

राधा ने गाना शुरू किया...

- 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई...'

पूरा भजन गाते गाते राधा तो क्या सभी महिलाएं मूर्तिवत हो गयीं. कुंती की तो आंखों से जल बरसने लगा. मीरा का दर्द उसने अपने रोम-रोम में अनुभव किया.

राधा के चुप हो जाने के बाद भी वहां देर तक सन्नाटा छाया रहा. उसके स्वर की गूंज मंदिर के पूरे प्रांगण और दीवारों -खंबों में समा गयी. जब महिलाओं ने उसांस लेकर हिलना डुलना शुरू किया तब कुछ हलचल हुई.

- हां... हम तो सांस लेना ही भूल गयी थीं, राधा बहन. हमें लगा हमारे शरीर में कान के सिवा कुछ और है ही नहीं. कुंती कह रही थी.

- आज लगा भजन क्या होता है. हम तो नित्य रेंक-रेंककर भगवान को तंग ही करती हैं. किसी दूसरी महिला ने कहा.

- अरी इतनी प्रशंसा तो मत करो. मैंने तो यूं ही गा दिया. आप लोगों का प्रेम भरा आग्रह देखकर. राधा विनम्रता से बोली.

- आपके ऐसे ही गाने ने राही साहब पर जादू किया होगा. एक महिला ने चुटकी ली और मुस्कान बिखर गयी.

दो क्षण में राधा फिर ज़िंदगी में पीछे लौट गयी.

...अय्याशी की ज़िंदगी ने पिता को जल्दी ही अपंग, अधरंग का शिकार बना दिया. उनकी देखरेख के लिए एक डॉक्टर रोज घर आने लगे. डॉ. राही के साथ कभी-कभी उनका बेटा प्रभात

भी आता. बेटा उस समय आई. ए. एस. की परीक्षा दे रहा था. वह इसलिए आता था कि उसने कुछ समय मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन किया था. उसे उसमें खूब रुचि थी पर आगे ऊंची नौकरी के चक्कर में वह छोड़ना पड़ा. पिता उसे डॉक्टर ही बनाना चाहते थे लेकिन उसकी रुचि मनोविज्ञान में थी. दोनों ही कैरियर पिछड़ गये. आगे रहा ऊंचे पद का लालच. मनोविज्ञान का अध्ययन होने के कारण पिता उसे राधा के पिता के पास ले आते थे. इस आशा से कि बीमार को कुछ लाभ मनोविश्लेषण से मिल जाये. वे अपने पूर्व जीवन के अनंत अपराधों से जो ग्रस्त थे.

राधा के पिता माधवकांत किसी भी तरह ठीक नहीं हो सके. उन पर कोई भी चिकित्सा कारगर नहीं हुई.

राधा के घर बार-बार आने से प्रभात राही का झुकाव राधा की ओर होने लगा. राधा का सलोना चेहरा, कमनीय देह बिना किसी श्रृंगार के आकर्षण से भरी थी. उसकी सादगी और मृदुवाणी में जादू था. जब राही को राधा के विधवा होने का पता चला था तब तो वह सिर से पैर तक झनझना उठा था. उसका आकर्षण प्यार में बदलने लगा जिसे राधा अनुभव करने लगी थी. पर दो कठोर पुरुषों के पिछले अनुभव उसे बहुत सतर्क बना गये थे. यही कारण था कि जब प्रभात राही ने एक दिन उससे शादी के बारे में बात की तो राधा एकदम कान पर हाथ रख घर में भाग गयी थी.

- नहीं, नहीं प्रभात अब मैं शादी की बात सुनना भी नहीं चाहती. तुम्हें मुझसे सहानुभूति है उसके लिए धन्यवाद.

प्रभात चूंकि मनोवैज्ञानिक था इसलिए उसने हार नहीं मानी. उसने धीरे-धीरे पहले राधा को मनाया. उसे अपने प्यार से आश्वस्त किया.

- राधा मैं तुम्हें भगाकर ले जाने या चुपचाप शादी कर लेने की बात नहीं कर रहा. मैं तुम्हें उसी आदर और प्यार से इस घर से ले जाऊंगा जिस तरह दुल्हन अपने पिता के घर से पति के साथ जाती है.

- मेरी मां, मेरे अन्य परिजन और सबसे पहले मेरे क्रोधी अभिमानी पिता इन सबको तुम कैसे समझाओगे प्रभात ?

- तुम अपना मन पक्का करो पहले. अपने समस्त संदेहों से, भय से बाहर आओ तब मैं अन्य सब से निपटूंगा.

- प्रभात सबसे अधिक भय मुझे अपने पिता से है. इस समय वे बीमार हैं तुम जानते हो. यदि वे बेटी के पुनर्विवाह का आघात नहीं सह सके तो मैं कहीं की नहीं रहूंगी.

- राधा तुमसे अधिक अब मैं तुम्हारे पिता को जान गया हूं.

प्रभात राही ढेड़ वर्ष तक माता पिता को मनाता रहा, समझाता रहा. मां तो बहुत शीघ्र सहमत हो गयी. वह जानती थी कि हम दोनों के मरने के बाद केवल धन के सहारे बेटी का

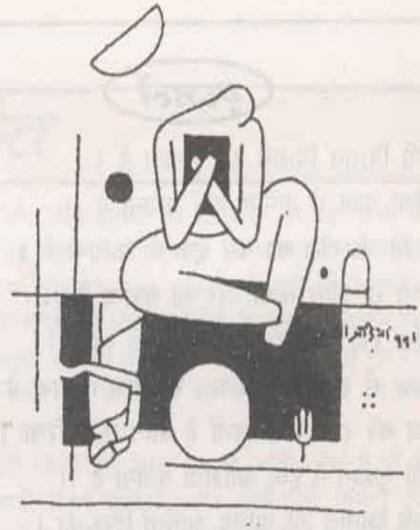

जीवन नहीं चल सकता. बहुत लंबा जीवन है और राधा की उम्र छोटी है. धन के लालच में कोई भी उसका जीवन समाप्त कर सकता है.

पिता को पहली बार जब प्रभात ने राधा की शादी के लिए कहा तो वे क्रोध से फुंकार उठे थे. प्रभात इस सबके लिए तैयार था ही. उसने बहुत धैर्य से काम लिया.

पिता ने क्रोध से फुंकारते हुए उसे घर से निकल जाने की धमकी दी.

- निकल जाओ मेरे घर से. फिर मुंह न दिखाना.

- शांत हो जाइए पिताजी... इतना क्रोध आपकी सेहत के लिए ठीक नहीं.

- चुप रहो. पिता क्रोध में कांप रहे थे, मां डर रही थी कि कुछ अनर्थ न हो जाये. पिता के पास बैठ वह उनका सिर सहलाने लगी थी. शांति से काम लीजिए. तुम्हारे सिवा हमारा कौन है ?

- तुम नहीं जानती इसकी नीयत. इस छोकरे की नज़र हमारी संपत्ति पर लगी है.

मैं आपकी संपत्ति से एक पैसा भी नहीं लूंगा मिस्टर माधवकांत. प्रभात ने बड़ी नम्रता से कहा था.

प्रभात ने आना नहीं छोड़ा हालांकि पिता अब उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते थे. इतने दिनों के इलाज से स्वास्थ्य में आया कुछ सुधार फिर गिर गया था. अब वे पहले से अधिक निढाल हो बिस्तर पर पड़े रहते. राधा सिर झुकाये घंटों पिता के पास बैठी रहती. दवा देने या हाथ पैर उठाने, चादर तकिया ठीक करने के अतिरिक्त पिता पुत्री में एक शब्द नहीं बोला जाता.

आज पिता ने राधा की ओर देखकर पूछा. - तू कुल को कलंक लगाना चाहती है ?

ग़ज़लें

अशोक आलोक

नयी बिसात बिछाये हुए जमाना है ।
हरेक चाल से अपना जहां बचाना है ।।
किसी भी खेल का बस एक ही फसाना है ।
कभी तो जीत कभी हार तो बहाना है ।।
टहल रहा है नज़र में यकीन का साया ।
सफ़र में राह की मुश्किल का क्या ठिकाना है ।।
हवा की राह पे मचलता है आग का दरिया ।
उसी मुकान पे इक आशियां बनाना है ।।
खुली किताब की मानिंद आसमां दिल का ।
बहुत उदास हरेक दिल का आशियाना है ।।

आग के सम्मुख हमारी बस्तियां रख कर गये ।
कुछ सियासी लोग यूं खुदगर्जियां रख कर गये ।।
हादसे के बाद थे गमगीन कितने रहनुमां ।
वे तभी तो जख़्म पर हमदर्दियां रखकर गये ।।
वो जो आये थे हमारी मुश्किलों का हल लिये ।
और जाने के कवल मजबूरियां रखकर गये ।।
पास थे पर उम्र भर मिलना नहीं मुमकिन हुआ ।
क्या कहें सच कौन क्या क्या दरमियां रखकर गये ।।
वक़्त के हाथों हमारी छिन गयी आवारगी ।
क्योंकि आंखों में फ़कत चिनगारियां रखकर गये ।।

द्वारा इलाहाबाद बैंक, केशोपुर, जमालपुर, मुंगेर-८११२१४ (बिहार)

- बोल क्या तेरी भी वही इच्छा है जो प्रभात की ?

अबकी राधा ने स्वीकृति में सिर हिला दिया.

- तुम्हें जो भी करना है मेरे मरने के बाद करो. प्रभात की नीयत मेरे धन पर है. तो मैं उसे कौड़ी नहीं दूंगा.

- हमें केवल आपका आशीर्वाद चाहिए पिताजी. राधा ने बहुत धीमे स्वर में कहा.

- तो तुम सब कुछ तय कर चुके हो. अरे बूढ़े बाप का कुछ खयाल किया होता ?

- बुलाओ वकील को कल ही मैं अपनी सारी संपत्ति दान में लिखता हूं.

हम जिसे पिता का आवेश समझ रहे थे वह सही नहीं था. दूसरे दिन वकील बुलाया गया. दो गवाहों के सामने पिता ने अपनी सारी संपत्ति राधाकृष्ण मंदिर के नाम लिख दी. दूसरे दिन रात में पिता ने फिर वकील को बुलवाया था.

इस घटना के बाद माधवकांत एक सप्ताह भी जीवित नहीं रहे. अंत समय में बेटी को इशारे से पास बुलाया, उसके सिर पर हाथ रखा. उनकी आंखों से दो आंसू लुढ़क पड़े.

अंतिम समय में पिता का आशीर्वाद मिला था और सिरहाने मिली थी उनकी वह विल जिसमें उन्होंने बेटी को दी थी अपनी हवेली और दिये थे समस्त पैतृक गहने. पिता की इस विल को पढ़कर राधा मां के गले लगकर खूब रोयी थी. मां हमने तो सदा पिता का रौद्र रूप ही देखा था. उनके स्नेह की एक बूंद हमें सिर से पैर तक नहला गयी है. यह विल तो बहुत पहले की लिखी है.

पिता की दी हवेली में शादी हुई. शादी के समय ही प्रभात ने उस हवेली को एक स्कूल के लिए दे दिया. इसमें संगीत की विशेष शिक्षा शुरू की गयी. पैतृक गहनों को मां ने स्मृति धरोहर के रूप में सहेज लेने का राधा से आग्रह किया.

बेटी राधा को विदा कर मां एक सप्ताह भी नहीं जी सकी.

इतने आघातों से घायल राधा का संगीत पीछे छूट गया. प्रभात उसे पिछली ज़िंदगी याद नहीं दिलाना चाहता था इसलिए कभी संगीत के लिए नहीं कहा. राधा भी धीरे-धीरे अपनी गृहस्थी और बच्चों में डूबती चली गयी. पति के साथ वह कई नगरों में रह चुकी थी. अब सेवानिवृत्ति के दिन नजदीक होने से उन्होंने अपना मकान यहीं इसी कॉलोनी में बना लिया था. अपने समस्त गहनों से राधा ने एक छोटे से संगीत विद्यालय की स्थापना कर डाली थी. उसकी दोनों बच्चियां संगीत में पारंगत हो गयी थीं. बेटियों में अपना रूप देख राधा अपने को धन्य समझती थी.

- कहां खो गयी मिसेस राही ? पड़ोसन रजनी ने टोका तब राधा होश में आयी. उसका मधुर स्वर गूंजने लगा -

गोविंद लीन्हों मोल,
माई री मैंने गोविंद लीन्हों मोल,
कोई कहे सस्तो, कोई कहे महंगो,
गोविंद है अनमोल.

ए-४७, शास्त्री कॉलोनी,
अंबाला छावनी -१३३ ००१.

कहानी

प्रेत-मुक्ति

डॉ. वासुदेव

आदिवासी बहुल क्षेत्र झारखंड की राजधानी रांची, रांची का रेलवे जंक्शन यानी हिल स्टेशन. रात्रि के तकरीबन साढ़े दस बज रहे हैं. पूरब की ओर से एक पैसेंजर ट्रेन आती है, रुकती है और देखते ही देखते पूरा प्लेटफॉर्म लकड़ियों के गट्ठरों से पट जाता है. सब की सब आदिवासी युवतियां और औरतें. दो-चार बूढ़े लोग भी. अभी बोझे ठीक से सहेजे भी नहीं गये हैं कि पुलिसवाले हाज़िर. प्रति बोझा एक रुपया की दर से वसूली शुरू. और पैसे देने के साथ ही बोझे सब प्लेटफॉर्म नं. १ पर आने लगते हैं. पश्चिमी छोर पर, शेड में अपने-अपने बोझों को सहेज कर सब के सब उसी में पट जाते हैं. रात जो बितानी है. सुबह, किरण फूटने से पहले ही सब के सब माथे पर लकड़ियों के गट्ठर उठाकर शहर को निकल जायेंगी, बेचने के लिए... दोपहर से पहले ही सबको लकड़ियां बेचकर वापस आ जाना पड़ेगा, गाड़ी पकड़ने के लिए, ताकि समय से घर लौटा जा सके. गौतमधारा, बरवांदाग, किता आदि रेलवे-स्टेशन दूर हैं न रांची से, घंटों लग जाते हैं जाने में. फिर घर पहुंचते-पहुंचते रात होने को आती है. रात की नींद भी पूरी नहीं होती कि सुबह-सुबह जंगल को दौड़ना पड़ता है लकड़ियां काटने के लिए. शाम तक बोझा लेकर स्टेशन नहीं पहुंचा गया तो गाड़ी ही छूट जाती है. फिर तो उस दिन की कमाई गोल. .....घर से निकलते समय साथ में खाना भी लेना पड़ता है - रात के लिए, फिर दिन के लिए. शहर में खाना कितना महंगा होता है ? ठीक से पेट भी नहीं भरता. और कमाई ? दो बोझा लकड़ियों से कभी पचास तो कभी साठ. ऊपर से परेशानियां दो दिनों की. शहर में तो रेजा की मजदूरी भी साठ रुपये है. पर काम मिलता कहां है ? और इतनी दूर से आकर रांची शहर में मजदूरी भी तो नहीं की जा सकती है. आते-जाते ही दिन निकल जायेगा, फिर काम कब होगा ? ऐसे में कौन गछेगा काम के लिए...?

प्लेटफॉर्म पर एक ओर लेटी फूलमणि के दिमाग में इस तरह की ढेर सारी बातें आ रही हैं. वह लकड़ियां लेकर पहली बार जो आयी है. वह तो आना ही नहीं चाहती थी. यदि भउजाई की तबियत अचानक गड़बड़ा नहीं जाती, तो वह आती भी नहीं. मां तो है नहीं. वर्षों पहले छोड़कर जो गयी सो लौटी ही नहीं. बाप तभी से हाड़ी-दारू पीकर रात-दिन नशे में धुत्त बना रहता है. भाई ही खेत-पथार, माल-मवेशी-सब की देख-भाल करता है. जंगल से लकड़ियां काट कर ला देता है और स्टेशन भी पहुंचा देता है. दोनों भाई-बहन ने बहुत कोशिश की कि बाप नशा करना छोड़ दे और खेती-गृहस्थी पर ध्यान दे, पर वह किसी की नहीं सुनता. वह जब नशे में होता है तो आज भी कहता है, "माएं तो भाग गयी दिकू के साथ, अब हम किससे रहें ? नशा से दुःख कम होता है. उसकी याद भी कमती है. तुम सब जाकर उसे खोज लाओ. कसम से, अब हम नशा करके उसके साथ मार-पीट नहीं करेंगे ! कभी नहीं करेंगे !!" वह रोने लगता है. पर माएं कहां है कि ये लोग उसे ढूंढ़ लायें ? मिलती तब तो... एक बार माएं मिल जाती तो मैं उसे ज़रूर घर ले आती. अब मैं भी छुट्टी के दिन लकड़ी बेचने आऊंगी, और गली-गली घूमकर माएं को खोजूंगी. लेकिन मैं माएं को पहचानूंगी कैसे ? मुझे तो उसकी शकल-सूरत भी याद नहीं. शायद माएं ही मुझे पहचान ले. लेकिन क्या माएं मुझे पहचान सकेगी ? वह थोड़ा चिंतित हो जाती है.

लड़की होशियार है. नौवीं जमात में पढ़ती है. मिशन स्कूल में, इसलिए कुछ ज्यादा ही समझदार है. जब से झारखंड राज्य बना है, उसे लगता है, अपना राज आ गया है. इसलिए छोटी-छोटी बातों पर भी उसका मासूम मन विद्रोह कर उठता है.... "झारखंड बना, अपना राज हुआ", तो फिर हम लोग इस तरह चोरी-छिपे जंगल क्यों काटते हैं ? दादी लकड़ियां बेचती थी, माएं भी, और अब भाभी बेचती है. पीढ़ियां गुज़रती जा रही हैं, पर जंगल की कटाई नहीं थमती. एक दिन जब जंगल ही ख़तम हो जायेगा, तो फिर क्या बचेगा जीने के लिए ? पेड़ तो कटते जा रहे हैं, पर पेड़ लग कहां रहे हैं ? जंगल को तो एक दिन ख़तम होना ही है. यहां आकर फूलमणि का चिंतन थम जाता है. उसे इसका जवाब नहीं मिल पाता कि जंगल कैसे बचेगा ?

तभी वह चौंक उठती है. कोई तबसे उसे ही घूर रहा है. इशारे भी कर रहा है.... बड़ी-बड़ी डरावनी आंखें, लंबी-लंबी मूछें, रूखरा चेहरा, अनाकर्षक ! वह सहम जाती है. अंदर से गुस्सा भी होता है. पर वह चुपचाप आंखें बंद कर लेती है.... ये दिकू लोग भी बड़े बेशर्म होते हैं. हम आदिवासी लड़कियों को अपनी हवस का शिकार-भर समझते हैं. आज तक न जाने कितनी मां-बहनों की आबरू इन लोगों ने लूटी है, कभी ईंट-भट्ठों पर ले जाकर, कभी घर की दाई-नौकरानी बनाकर. जैसे पूरा झारखंड ही इन लोगों के लिए चारागाह बन गया हो. लेकिन अब तो अपना

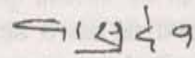

१६ मार्च १९५२,
एम. ए. (हिंदी), पी-एच. डी.

प्रकाशन : 'इस जंगल के लोग', 'नयी बहू की आंखें', 'जब झींगुर डटकर बोला' (कहानी संग्रह); 'सुबह के इंतजार में' (उपन्यास); १०० के आस-पास कहानियां प्रकाशित; 'निगोड़ी', 'अरण्य गाथा' (उप.) तथा 'पुँश्चली' एवं 'महापाश' (क.सं.) शीघ्र प्रकाश्य.

पुरस्कार : 'इस जंगल के लोग' - बिहार सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा पुरस्कृत, 'सर्वेश्वर दयाल सक्सेना (१९८८)' एवं 'कथाक्रम कहानी-पुरस्कार' (२००२), अब तक ७ कहानियां पुरस्कृत.

संप्रति : झारखंड दूरसंचार परिमंडल, रांची के कार्यालय में राजभाषा विभाग में सेवारत तथा विभागीय पत्रिका 'झारखंड संचार' का संपादन.

राज हुआ. हमारा शोषण तो अब रुकना चाहिए.... तो फिर यह दिकू क्यों मुझे इस तरह घूर रहा है ? वह सहसा आंखें खोल देती है. अभी भी वह पुरुष उसे घूर ही रहा है. वह गुस्से से उसकी ओर देखती है. ....बड़ा ढीठ मरद है ! वह टोक देती है. क्या घूर रहे हो काका ? आपके घर में बिटियां नहीं है क्या ? वहां खड़े कई लोग आश्चर्य से उधर ही देखने लगते हैं.

"बड़ी चालू लड़की है." भीड़ से कोई बोलता है.

"मुंहफट भी है." दूसरी आवाज आती है.

"लकड़ी बेचनेवाली सब ऐसी ही होती हैं." तीसरी आवाज.

तब तक शरम से पानी-पानी होकर अधेड़ उम्र का वह मनचला आदमी वहां से घसक जाता है और भीड़ में खो जाता है. परंतु फूलमणि का गुस्सा तो जैसे और उधिया पड़ता है. वह कुछ बोलती या पूछती, तब तक एक वृद्धा कहने लगती है, "यह रेलवे स्टेशन है मइया. यहां हर मिजाज के लोग आते हैं. वे लोग हमें घूरते हैं, इशारे करते हैं, पैसे दिखाते हैं, पर हम सब उधर ध्यान नहीं देतीं. और ध्यान देकर भी क्या होगा ? कौन सुनेगा हमारी ?.... कोई नहीं...."

"क्यों नहीं सुनेगा ? फूलमणि विरोध करती है," तुम सब इतनी हो. अपनी सरकार है ! फिर भी इन दिकुओं के गंदे इशारे सह लेती हो ? वह आवेश में आ जाती है और अपनी ज़गह उठ बैठती है. वह हांफ रही है मानो गुस्से में फुफकार रही हो डसने के लिए.

उसकी बातें, उसका गुस्सा सबको हैरत में डाल देता है. कोई तो ऐसा नहीं बोलती ! पर फूलमणि. झगड़ने को तैयार हो जाती है... "सो जाओ मइया". बगलवाली महिला समझाती है, हम सब यहां लकड़ी बेचने आती हैं, मइया, झगड़ने नहीं. भला झगड़ कर हम सब यहां कई दिन टिक पायेंगी ?

"यह ठीक कहती है मइया." एक वृद्ध जो सबसे किनारे लेटा है, पड़े-पड़े ही कहता है, "तुम जिसे अपना राज कहती हो, हमें तो वह कहीं दिखाई नहीं देता ? हम तो कल भी लकड़ियां ही बेचते थे, आज भी लकड़ियां ही बेचते हैं और कल भी लकड़ियां ही बेचेंगे. अंधे के लिए जैसी रात, वैसा ही दिन..."

"दिखाई देगा, बाबा." फूलमणि उसकी ओर मुंह फेर कर कहती है, 'अपना राज भी दिखाई देगा. बस ज़रूरत है अपनी नज़र बदलने की."

"यह सब तो हम नहीं समझते, मइया. पर इतना ज़रूर जानते हैं कि शहर बदल गया, शहर के लोग बदल गये, यहां तक कि सरकार भी बदल गयी, पर हमारा कुछ भी नहीं बदला."

"कैसे नहीं बदला, बाबा ? मास्टर जी तो कह रहे थे कि जब से सरकार बनी है, थोड़ा-बहुत बदलाव हर तरफ से हुआ है. अब सरकार के हाथ में जादू की छड़ी तो नहीं कि...."

"अब चुप भी करो री, छोरी. छोरी." अभी वह बोल ही रही थी कि एक दूसरी औरत टोक देती है, तू झारखंड की राबड़ी देवी बनना, ठीक है ? पर अभी तो सो जा. ढेर रात उतर आयी है..."

तभी अचानक प्लेटफॉर्म पर एक गाड़ी आ लगती है. गाड़ी के आते ही प्लेटफॉर्म की बगल के पेड़ों पर सो रहे गोरैया पंछी चहकने लगते हैं. फूलमणि का ध्यान उधर ही चला जाता है. सब के सब सोने का प्रयास करने लगती हैं.

❑

सुबह, पौ फटने से पहले ही सब के सब माथे पर लकड़ियों के गट्ठर लादे शहर की ओर चल पड़ती हैं - अलग-अलग दिशाओं में, अलग-अलग गलियों और मुहल्लों में, एक-एक, दो-दो की टोली में.

एक बूढ़ी औरत के साथ फूलमणि गली में दूर निकल जाती है, करीब-करीब नदी किनारे. गली के मकान भी वहीं ख़त्म होते हैं.

"ये लकड़ी s..." गली में, कहीं दूर से पुरुष आवाज आती है. दो-दो बोझे हैं सिर पर. वह रुकती है, पीछे मुड़ती है, फिर देखती है, बायीं ओर करंज गाछ के पास से एक पुरुष हाथ के इशारे से उसे बुला रहा है. फूलमणि चुपचाप उस बूढ़ी की ओर देखती

है. जैसे वह उससे पूछ रही हो कि वह क्या करे - जाये या नहीं ?

''जाओ, बेच आओ.'' वह कहती है और स्वयं दूसरी ओर चल देती है. फूलमणि बायीं ओर बढ़ जाती है.

जब फूलमणि उसके करीब पहुंचती है, तो उसे थोड़ा आश्चर्य होता है. कहीं यह वही व्यक्ति तो नहीं, रात जो गंदे-गंदे इशारे कर रहा था ? पर नहीं... यह वह नहीं है. लेकिन दोनों में कोई फ़र्क भी नहीं है. इसकी भी नीयत ठीक नहीं ! मन का गंदा लगता है. पर इससे क्या ? मुझे तो लकड़ियां बेचकर चल देना है. पहला ग्राहक है. नकारना भी ठीक नहीं. भाभी ने कुछ ऐसा ही कहा है...

''कितने रुपये लोगी ?'' तब तक वह पूछ देता है.

फूलमणि चौंक पड़ती है, झल्लाते हुए पूछती है, "दोनों बोझा ?''

''दाम से दोगी तो दोनों रख लेंगे.'' पुरुष ललचायी आंखों से उसे घूरता है.

''दोनों के साठ रुपये.'' वह आंखें झुकाये ही अन्यमनस्क भाव से जवाब देती है.

''कम नहीं करोगी ?'' वह आंख मारते हुए मुस्करा कर पूछता है. "नहीं''. उसका मन नहीं होता उससे बतियाने का. इसलिए न चाहते हुए भी वह जाने को होती है, बल्कि एक-दो कदम आगे भी बढ़ जाती है.

''अच्छा ठीक है. चलो, पहुंचा दो. तुम्हारा ही दाम रहेगा.'' उसके चेहरे पर विचित्र तरह की मुस्कान है, और आंखों में...?

पर तभी वह आंखें झुकाये ही रुक कर पूछती है, "कहां''?

''सामने कटहल का जो पेड़ है न, वहीं मेरा डेरा है. आओ...'' वह आगे-आगे चल देता है. पीछे-पीछे फूलमणि जाती है.

''तू जितनी सुंदर है न, उतना ही सुंदर तुम्हारा नखरा है.'' वह चलते-चलते ही बुदबुदाता है.

''का बोले, बाबू ?'' फूलमणि आशंकित हो पूछती है.

''कुछ नहीं, चलो.'' पुरुष जवाब देता है. वह मुस्करा रहा है.

स्वर्णरेखा नदी के किनारे-किनारे कई आवास बने हैं. कुछ कच्चे, कुछ पक्के, कई एक झुग्गी-झोपड़ियां भी. वहीं रेल विभाग के कुछ क्वार्टर हैं. चतुर्थवर्गीय कर्मचारियों के लिए अंतिम छोर पर स्थित क्वार्टर उसी आदमी का है. पहले वह रेल विभाग में कैज़ुअल मजदूर था, फिर वह रेगुलर हुआ, और अब पैटमैन है. उत्तर बिहार के छपरा जिले के किसी गांव का है. सुखदेव पांडेय - यही नाम है उसका. कहते हैं उसकी दो-दो बीवियां हैं - एक गांव में और दूसरी यहां, डेरा में. वर्षों पूर्व, जब वह कैज़ुअल में था, एक आदिवासी महिला पर उसका मन मचल गया था, जो लकड़ियां बेचने आया करती थी. फिर तो वह उसके पीछे इस कदर पागल बन गया था कि उसको अपने डेरे में बैठाकर ही दम लिया था. हालांकि उस औरत के दो बच्चे भी थे - एक बेटा और एक बेटी, पर उसने उन्हें भी छोड़ दिया था. लेकिन यह वर्षों पूर्व की बात है. इधर तो उसकी वह बीवी सख्त बीमार है. तपेदिक है. रात-दिन खांसती और कुहरती रहती है. कमजोर इतनी कि वह खाट से उठ भी नहीं सकती. बड़ी मुश्किल से दिशा-मैदान के लिए सहारा ले कर जा पाती है. वह उसकी दवा दारू भी नहीं करता. छोड़ दिया है मरने के लिए कहता भी है, ''अब क्या रखा है इस रोगी आदिवासी औरत में ?'' शायद अब उसे किसी तीसरी औरत की तलाश है.

फूलमणि घर के गेट के पास आकर खड़ी हो जाती है.

''अंदर रख दो." वह गेट में लगे दरवाजे को खोलकर आंगन में चला आता है. फूलमणि दोनों बोझों को आहिस्ते से नीचे पटक देती है, हाथ से माथे का बिढ़ा पकड़ लेती है और राहत की सांस लेती है. हालांकि सुबह का समय है. वातावरण में सुबह की ठंड घुली है, फिर भी उसके चेहरे पर पसीना चुहचुहा रहा है, जिससे उसके आनन की खूबसूरती बढ़ गयी है. अब तक वह पुरुष अंदर से रुपये ले आता है.... "लो, रख लो." उसकी बातों में प्यार-भरा आग्रह है और चेहरे पर कुटिल मुस्कान.

''लेकिन मेरा तो साठ ही बनता है, बाबू. सौ के टूटे भी तो मेरे पास...!''

''तो सब रख लो. फिर कभी आना तो बाकी की लकड़ियां दे देना.'' इस बार उसकी आंखें भी कुछ बोलती हैं.

"लेकिन मैं लकड़ी बेचने कहां आती हूं ? मेरी तो भाभी..!''

"तो समझ लो, बाकी पैसे तुम्हारी बख्शीश है.'' इस बार वह फूलमणि के कोमल-उभरे गालों को धीरे से सहला देता है. झेंप जाती है वह. शरमा कर दो कदम पीछे हट जाती है. ....चालीस रुपये बख्शीश ! लेकिन क्यों ? वह उसकी नीयत को भांप लेती है और इसलिए आशंकित हो जाती है.... यह आदमी भला आदमी नहीं लगता. इसके पैसे रखना ठीक नहीं. क्या पता, कोई बखेड़ा खड़ा कर दे. वह थोड़ी दृढ़ता से कहती है, "टूटे दो बाबू. ....जल्दी करो, देर हो रही है." वह सौ के पत्ते को उसकी ओर बढ़ा देती है.

वह प्यार से उसकी ओर देखता है.... यह जितनी ही सुंदर है, उतनी ही भोली भी. थोड़ा पैसा और दे देने से शायद... वह पचास का पत्ता उसकी ओर बढ़ाते हुए कहता है, ''लो, इसे भी रख लो''.

इस बार फूलमणि सारा कुछ समझ जाती है. उसकी आंखों में तैर रहे वासना के आमंत्रण को भी वह भांप जाती है. वह पचास के पत्ते को ले लेती है और सौ के पत्ते को वहीं जमीन पर रखने के लिए झुकती है कि तभी वह पुरुष कहता है, ''लकड़ी बेचनेवाली

के लिए तो बीस-तीस रुपये ही काफी होते हैं, पर तू है कि दस कम सौ पर भी नखरा करती है ?'' वह उसे दबोच लेता है. बाज के पंजों में फंसी चिड़िया की तरह वह झटपटाने लगती है. उसे हैरानी होती है कि अचानक यह क्या हो गया ? यह पुरुष इतना नीच और कमीना निकला. वह एकदम से सहम जाती है. तभी उस बीमार औरत की खांसी और फिर उसकी कराह उसको सुनायी देती है. उसकी थोड़ी हिम्मत बढ़ती है. कहां वह एक आदिवासी किशोरी और कहां वह उम्र की ढलान पर खड़ा एक शराबी पुरुष. वह गुस्से में उसे काट खाती है. पुरुष इसके लिए कतई तैयार नहीं था. उस पर तो वासना का भूत जो सवार है. काट के दर्द से एकबारगी तिलमिला उठता है. उसकी पकड़ सहसा ढीली पड़ जाती है. फूलमणि गैंची मछली की तरह एकबारगी उसकी पकड़ से छिटक कर उस कमरे की ओर भागती है जहां खाट पर पड़ी वह औरत कुहर रही है. ''....मुझे बचा लो, माय. उस राक्षस से मुझे बचा लो. मैं तुम्हारे पांव पड़ती हूं." वह उससे लिपट जाती है. डर से थर-थर कांप रही है वह. शरीर पसीना-पसीना हो रहा है.

औरत धीरे से आंखें खोलती है और बड़ी करुणा से उसकी ओर देखती है.

कैसा अधम मर्द है ? इस बच्ची के साथ दिन-दहाड़े ! इसकी हिम्मत तो देखो. मेरे ही सामने.... इसने मुझे माय कहा है. ... हमारी मइया भी तो इतनी बड़ी हो गयी होगी. वैसा ही चेहरा-मोहरा... आवाज भी. न जाने वह किस हालत में होगी. उसे लगता है जैसे उसी की बेटी उससे आ चिपकी है और उस राक्षस-पति से अपनी सुरक्षा के लिए प्रार्थना कर रही है.

औरत उसे निहारती है. उसे आश्चर्य होता है. पुनः निहारती है. उसे घोर आश्चर्य होता है.... कहीं यह फूलमणि तो नहीं ? लेकिन वह यहां क्यों आयेगी ? लेकिन क्या पता ? उस शराबी बाप ने उसे भी पढ़ाई छुड़वाकर काठी बेचने के लिए हांक दिया हो ? उसका मानसिक द्वंद बढ़ जाता है. अनायास मुंह से निकल पड़ता है. 'तू फूलमणि तो नहीं ?'

"हां, मांजी." वह बड़ी कातरता से गिड़गिड़ाती हुई कहती है.

''बसिया गांव की फूलमणि. कहीं शुक्रा मुंडा की बेटी तो नहीं... ?''

"हां, मांजी ! हां !! आप मुझे बचा लीजिए, नहीं तो वह...! वह आदमी मेरी इज्जत लूटने पर अमादा है." वह उससे और कसकर चिपक जाती है, जैसे कोई मासूम बच्ची डर कर अपनी मां से चिपकती हो, क्योंकि अब तक वह कामांध पुरुष उसके करीब आ जाता है. अब तक स्त्री को पूरा विश्वास हो जाता है कि यह उसी की बेटी फूलमणि है जिसे वर्षों पूर्व वह गांव छोड़कर यहां आ गयी थी. न जाने उस मरणासन्न औरत में कहां से उतनी कूबत आ जाती है ? वह फूलमणि को अपने अंकपाश में समेट लेती है और गुस्से में एकबारगी उस पुरुष पर उबल पड़ती है, "रुक जा रे पापी ! ऐसा अधर्म मत कर !! यह तो तुम्हारी ही बेटी है !!! क्या इसी के साथ तू... ?" कहते-कहते स्त्री हांफने लगती हैं. खांसी भी हो आती है.

लाख अवगुणों के बावजूद गरीब धर्मभीरू होते हैं. वे पाप और पुण्य का मतलब समझते हैं. पाप से डरते हैं और पुण्य कमाकर उस लोक में थोड़ी-सी ज़गह बनाना चाहते हैं. सुबह-सुबह वह नशे में भी तो नहीं है, उसके पांव जहां के तहां थम जाते हैं. सिर झुक जाता है. जैसे उसे अपनी करनी पर अफ़सोस हो रहा है. आंखें भी भर आती हैं. देर तक वह आत्मग्लानि से भरा जड़वत खड़ा रहता है. और जब सिर उठाता है, तो देखता है, औरत लड़की के कंधे का सहारा लिये घिसटती हुई बाहर जा रही है.

धर्मशीला कुटीर, अरसंडे, बोड़ेया, रांची-८३४ ०४०. (झारखंड)

लघुकथा

दिल और दिमाग

के. जी. बालकृष्ण पिल्लै

बच्चे ने कई दिनों के बाद अपनी मां को अदालत के परिसर में देखा तो उसने दूर से ही बड़े आवेग में पुकारा - "मम्मी..."

मां ने अपने वकील की ओर नज़र दौड़ाई और अनसुनी कर के मुंह फेर लिया.

बच्चा पिता की गोद से उतर कर दौड़ता हुआ मां के पास पहुंचा. तब मां के दिल ने उसके दिमाग को परास्त कर दिया. बच्चे को दोनों हाथों से उठाकर उसका चेहरा चुंबन से ढक दिया और कहा - "मेरे दोनों गालों पर चुम्मा दो. एक सौ चुम्मा."

बच्चे ने मां के दोनों गालों पर बार-बार चुंबन जमा दिया.

मां की आंखें डबडबा आयीं. एक पल के लिए वह भूल गयी कि वह तलाक का मुकदमा लड़ने आयी है. वकील की नज़र पड़ते ही उसने बच्चे को गोदी से उतार दिया और वाणी में क्रोध भरकर कहा - "चलो अपने पापा के पास."

बच्चा रोता हुआ चला. उसकी लंबी पुकार को अनसुनी करती हुई युवती मां युवक वकील के साथ कार में घुस गयी. कार जब फाटक से हो कर बाहर निकल रही थी तब पिता की गोद में बैठे बच्चे के हिलते बायें हाथ के जवाब में माता का दायां हाथ भी धीरे-धीरे हिल रहा था.

गीता भवन, पो. पेरूर कटा, तिरुअनंतपुरम ६९५ ००५

कहानी

अपना नीड़ - अपना आसमान

गोवर्धन यादव

बाबूजी s s s...!

उसकी आवाज में तलखी थी. वह चीखकर बोला था. बोलते समय उसके ओंठ कांपे थे. चेहरे पर तनाव की परछाइयां साफ़ देखी जा सकती थीं. वह तमतमाया था. उसकी तर्जनी बाबूजी की तरफ़ तनी हुई थी.

"बाबूजी...बस. बस बहुत हो चुका. जितना कहना था...कह चुके. हमें समझाने की ज़रूरत नहीं. बहुत समझा चुके आप. हम बच्चे नहीं रहे... हमें अपनी ज़िंदगी अपने हिसाब से जीने दें."

रामप्रसादजी का चेहरा फ़क पड़ गया था. आवाज गले में फंसकर रह गयी थी. मुंह खुला रह गया था. वे अवाक थे. अजय के चेहरे पर छायी क्रोध की परतों को कुरेदकर देखने लगे थे. मन में विचारों का तूफान उठ खड़ा हुआ था. अंदर सब क्षत-विक्षत था. वे सोचने लगे थे.

अजय में इतनी हिम्मत कहां से आ गयी कि वह अपने पिता से जुबान लड़ाने लगा. भूल गया वह. किससे बात कर रहा है. अपने पिता से. वह भी इस लहज़े में ? वे अपने आपको भी टटोलने लगे थे. बोले गये शब्दों को मन ही मन दोहराने लगे थे. याद नहीं पड़ता उन्होंने अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया था. फिर एक बाप अपने बेटे से दोयम दर्जे की बात क्यों कर कहेगा. बाप हमेशा से ही अपने बेटों को सीख ही देते आये हैं. - वह वही बोलता है जिसमें उनकी भलाई छुपी हुई होती है... वह उसके लिए कल्याणकारी हो. उनका हितवर्धन करती हो.

रामप्रसाद जी की अब तक की ज़िंदगी पढ़ने-पढ़ाने में ही बीती है. कितने ही विद्यार्थियों को अब तक पढ़ा चुके हैं. कितने ही विद्यार्थी उनके कुशल मार्ग-दर्शन में पी-एच.डी. की डिग्रियां हासिल कर चुके हैं. अपनी उच्च-परंपरा, कर्तव्यनिष्ठ, एवं आदर्श के लिए वे सदैव याद किये जाते हैं. आज भी उन्हें भिन्न-भिन्न विषयों पर आख्यान देने के लिए सादर बुलाया जाता है.

निश्चित ही अजय के कोमल मन के आंगन में किसी ने विष-वृक्ष बो दिये हैं. कौन है वह ? क्यों वह उनकी अमन चैन की ज़िंदगी में बवंडर उठाना चाहता है ? क्यों चाहते हैं लोग कि उनके नीड़ का तिनका-तिनका बिखर जाये ? तरह-तरह के प्रश्न उन्हें उद्वेलित-व्यथित कर जाते.

अजय के चेहरे से चिपकी नज़रें हटाते हुए उन्होंने कामिनी की ओर देखा. वह एक ओर खड़ी सब देख रही थी. उसकी आंखों में एक विशेष चमक थी और ओंठें पर कुटिल मुस्कान. वे समझ गये. समझने में तनिक भी देर नहीं लगी. झगड़े की जड़ में शायद इसी का हाथ हो.

सरस्वती के पुत्र हैं वे जबकि कामिनी लक्ष्मी की दासी. एक करोड़पति बाप की इकलौती संतान. जब सरस्वती और लक्ष्मी में नहीं निभी तो उनके अनुयायी के बीच तालमेल कैसे बैठ सकता है. लक्ष्मी पुत्रों ने सदा से ही सरस्वती पुत्रों का मखौल ही उड़ाया है. मन के कोने में संदेह के बीज पनपने लगे थे.

उन्होंने कातर नज़रों से कांता की ओर देखा. वह भी अजय के व्यवहार से नाखुश थी. वह भी स्तब्ध खड़ी थी. जुबान होते हुए गूंगी. ज़िंदा होते हुए भी जड़वत-पाषाण खंड की तरह.

कांता का मन घड़ी के पेंडुलम की तरह दोलायमान हो रहा था. कभी इधर-कभी उधर. वह सोच रही थी. किसका पक्ष लूं, किसका नहीं. अजय का पक्ष लेती है तो पतिवृत धर्म आहत होता है. पति की नज़रों में गिर भी सकती है. पति का पक्ष लेती है तो ममता घायल होती है. दो भागों में बंटी औरत, कितनी विवश, कितनी लाचार, कितनी अवश होती है. औरत तो सदा से ही खंड-खंड होती आयी है. खंड-खंड होते हुए भी उसमें दया-ममता-करुणा के त्रिविध स्रोत बने ही रहते हैं. सदियों से यह क्रम औरत जात का पीछा करता आया है. उन्हें सब कुछ लुटाना ही पड़ता है. यहां तक नेह भी, प्यार भी और देह भी. वे तरह-तरह से लूटी जाती रही हैं. लूटने का ढंग भिन्न-भिन्न हो सकता है.

फिर उसे कितने ही संबंधों की सुरंगों के बीच से होकर बहना होता है. कभी वह दुर्गा बना दी जाती है. कभी काली. कभी कुछ और. देवी बनकर आशीर्वाद भी तो लुटाने पड़ते हैं उसे. जब वह दांव पर चढ़ा दी जाती है तो निर्वस्त्र भी किया जाता है उसे. कभी वह वैश्या बनाकर कोठे पर बिठा दी जाती है. उसे बैठने पर मजबूर किया जाता है. देह लुटाने के बदले में मिलती है चांदी की चमक जो बुढ़ाती देह के साथ ही अपनी चमक खोने लगती है. किसका पक्ष ले कांता - किसका न ले. मन में अब भी चक्रवात सक्रिय था.

अजय के द्वारा कहे गये शब्दों की अनुगूंज, अब भी उसके कानों में सुनाई पड़ रही थी. अजय की बातों से साफ़ झलक रहा

था कि उसने अपना रास्ता चुन लिया है. अपना अलग घर लेने का मानस बना लिया है.

मां सब कुछ सह सकती है. दुनियां के सारे दुख-दर्द उठा सकती है. पर पुत्र-वियोग की बात वह सहन नहीं कर सकती है. उसका मन राई के दानों की तरह बिखर-बिखर गया था.

पुत्र की कामना ने कितना भटकाया था उसे. कितनी ही मनौतियां मांगने, कितने ही देवालयों की चौखटों पर माथा नवाने, पीर-पैगंबरों की मजारों पर सजदा करने के बाद उसने अजय को पाया था. अजय के लिए उसने अपने दिन का चैन और रात की नींद सभी कुछ लुटा दिया था.

अपने जीवन का अर्क निचोड़कर पिलाया था उसने. उसे संस्कार दिये. समाज में सम्मानपूर्वक जीने का हक़ दिया. पिता ने भी क्या कुछ नहीं दिया. पिता से उसे शरीर, जमीन, आश्रय मिला. उसने तो उसे केवल आसमां में ऊंचा उड़ने कि लिए दीक्षित किया. आसमान से परिचित कराया. आज वही अजय अपने पिता को धमकाने पर उतर आया. क्यों ? क्यों ?

कांता की नज़रें कामिनी के चेहरे पर जा टिकीं. रूप में वह खिले हुए कमल की तरह थी तो रंग में धुली हुई चांदनी की तरह. कामिनी की आंखों में कौंधती बिजली की चमक और ओठें पर कुटिल मुस्कान देखकर वह अंदर तक कांप सी गयी थी. एक अज्ञात भय मन की गहराइयों तक उतर आया था. कितना भला समझा था उसने कामिनी को. वह तो गुड़ भरी हंसिया निकली. उसके मन में कुछ न होता तो वह अजय को अपने दुष्कृत्य के लिए टोंकती. उसे मना करती. उसके विरोध में खड़ी हो जाती. संदेह कुछ-कुछ यकीन में बदलता जा रहा था.

कामिनी नहीं चाहती थी कि उसका पति अब भी अपनी मां का पल्लू पकड़े उसके पीछे डोलता फिरे. वह यह भी नहीं चाहती थी कि अपने पिता की डुगडुगी की आवाज़ पर पालतू रीछ की तरह नाचता रहे. वह तो कुछ और ही चाहती थी. वह चाहती थी कि अजय के संग तितली बनकर नील गगन की ऊंचाइयों में उड़े. वह चाहती थी खुशबू बनकर हवा की पीठ पर सवार होकर इठलाती-बलखाती डोलती फिरे. फिर महलों में रहने वाली शहज़ादी का दम घुटता था कच्चे मकान में. वह चाहती थी कि एक काबिल अफसर अपने स्टेटस के मुताबिक रहे. अजय एक हीरा है और वह चाहती थी कि उसे सोने के वृत में जड़ा जाना चाहिए.

इंसाफ के तराजू के पड़ले ऊपर-नीचे होते हुए आखिर थिर हो गये. निर्णय पति के पक्ष में गया था. कांता का मौन मुखर हो उठा. जड़-देह चैतन्य होने लगी. ओठें पर शब्द फड़फड़ाने लगे. आंखों में क्रोध उतर आया. अजय को उसकी औकात बतलाना भी ज़रूरी था. उसने अजय के गाल पर तड़ाक से चांटा जड़ दिया.

गोवर्धनयादव.

१७ जुलाई १९४४, मुलताई, बैतूल (म. प्र.),
बी. ए.

लेखन : विगत ४ दशकों से कविताओं के माध्यम से साहित्य-यात्रा प्रारंभ; विगत १२ वर्षों से कहानियों का लेखन; प्रायः सभी कहानियां लघु-पत्रिकाओं, पत्रिकाओं, समाचार पत्रों में प्रकाशित. कहानी संग्रह 'महुआ के वृक्ष' सतलुज प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा) से २००३ में प्रकाशित.

संप्रति : डाकपाल (सेवानिवृत), कवर्धा (छत्तीसगढ़)

चांटा जड़ने के साथ ही वह केवल इतना भर कह पायी, "अजय अब चुप भी कर. क्या अधिकार है तुझे कि तू अपने देवता-तुल्य पिता पर उंगली उठा सके. जिस देवता ने तुझे शरीर दिया, आत्मा दी, वाणी दी. तमीज़ सिखायी. समाज में सम्मानपूर्वक जीने का हक़ दिया. तू आज इन्हीं की बेइज्जती करने पर उतर आया. बस. बस." इतना ही वे कह पायी थी और उसे गले से लगाती हुई फफककर रो पड़ी थी.

अजय के अंदर उमड़-घुमड़ रहा विद्रोह का चक्रवात धीमा पड़ने लगा था. मन पर जमी अंह की परतें और घमंड के हिमखंड पिघलकर आंखों से बह निकले थे.

कामिनी को समझते देर न लगी. उसे अपना मायाजाल ध्वस्त होता नज़र आने लगा. वह सोचने लगी. मांजी ने क्रोध भी जता दिया और अपनी ममता का सागर भी उलींच डाला. सारा मामला लगभग शांत होता दिखा. अपनी विफलता देख वह क्रोध से भरने लगी थी. हारकर भी हार न मानते हुए उसने अपने तरकस में बचा आखिरी तीर लक्ष्य साधकर चला दिया था.

"अजय...खूब अपमान करा चुके हो तुम अपना और कितना अपमानित होते रहोगे. क्यों पड़े हो मेंढक की तरह इस कुंए में जिसकी अपनी एक छोटी सी सीमा है. तुम्हें तैरने के लिए तो समुद्र चाहिए था. क्यों दुबके पड़े हो अपनी मां के पल्लू से चिपके, जबकि तुम्हें उड़ने के लिए एक आसमान चाहिए था. क्यों

घुट-घुटकर जी रहे हो जबकि तुम्हें धरती का सा विस्तार चाहिए था. ये तुम्हें कुछ नहीं दे सकते. दे भी क्या सकते हैं तुम्हें ? इनके पास देने को बचा ही क्या है. इन्होंने तुम्हें आदर्शों का मोमजामा भर पहना दिया है. जबकि आज की दुनियां में इसकी कतई ज़रूरत नहीं है. खोखले हैं वे सारे शब्द. वे कभी के अपनी अर्थवत्ता...अपनी गरिमा, अपनी चमक सब खो चुके हैं. ठीक है. इनके सहारे तुम उस धरातल पर खड़े तो हो सकते हो परंतु आकाश की ऊंचाइयों को छू नहीं सकते. सुनने में अच्छे लगते हैं ये शब्द. अब भी समय है अजय...जागो. तुम इस भुरभुरी जमीन पर कैसे खड़े रह सकते हो. तुम अब भी सूखे हुए वृक्ष के कोटर में रहना चाहो तो रहो. मैं एक पल भी यहां ठहरना नहीं चाहती. दम घुटता है मेरा यहां. तुम्हें यहां अपमानित होने में मज़ा आ रहा है तो शौक से रहो. मज़ा करो. पर मैं तुम्हें अपमानित होते नहीं देख सकती. हरगिज़ नहीं. मैं आज ही, अभी... घर छोड़ कर जा रही हूं. तुम चाहो तो मेरे साथ चल सकते हो. बाद में भी आना चाहो तो आ सकते हो. मैं तुम्हें इंतज़ार करती मिलूंगी."

लक्ष्य साधकर तीर संधान किया गया था. तीर निशाने पर बैठा था. वह जानती थी तीर की तासीर. वह तीर बेहोश करेगा, मगर होश भी बना रहेगा. वह देखेगा भी तो उसे उसका अक्स नज़र आयेगा. उसे दर्द भी होगा. आह भी निकलेगी पर आह के साथ उसका अपना नाम भी होगा. जानती है वह. वह तीर उसने अपने रूप-यौवन और मद के सम्मिश्रण के घोल में बुझाकर तैयार किया था. एक ऐसे ही तीर का संधान, अप्सरा मेनका ने किया था जिसकी घातक मार का सामना ऋषि विश्वामित्र को करना पड़ा था. उसके ओठों पर एक कुटिल मुस्कान फिर तैरने लगी थी.

"क्या कह रही हो कामिनी तुम ? क्यों हमारे विरोध में अजय को भड़का रही हो ? क्या हमने तुम्हें कभी पराया समझा. तुम्हें बहू नहीं, बेटी ही माना है हमने. क्या मां-बाप को इतना भी अधिकार नहीं रहा कि वे अपने बेटे को डांट भी सकें. तुम मां-बाप होने का हक़ भी छीनना चाहती हो हमसे ?" कांता के स्वर में हताशा के भाव सन्निहित थे. बोलते समय उसके ओंठ कांपे थे.

"मुझे इस विषय में कुछ भी नहीं कहना है. और ना ही मैं कुछ कहना चाहूंगी." पैर पटकते हुए वह अपने कमरे में समा गयी थी और अपना सूटकेस तैयार करने लगी थी.

एक विभाजन रेखा स्पष्ट रूप से खींची जा चुकी थी. कामिनी जानती थी. अजय उसके प्रेमपाश में इस क़दर जकड़ा है कि वह देर-सबेर उसके पास चला ही आयेगा. अपने हृदय-कमल की पंखुड़ियों को भीतर समेटते हुए उसने अजय रूपी भौंरे को कैदकर के जो रख लिया था.

कामिनी जा चुकी थी. उसे जाते हुए सभी देख रहे थे. रामप्रसाद एवं कांता अपने नीड़ को उजड़ते हुए देख रहे थे. वे जानते थे कामिनी रोके रूकने वाली नहीं है. कामिनी के जाते ही एक बड़ा सा शून्य सभी के मन में उतर आया था.

अजय का दिन का चैन व रातों की नींद छिन गयी थी. भूख-प्यास से जैसे उसका कोई नाता ही नहीं रह गया था. वह खोया-खोया, उखड़ा-उखड़ा सा रहता. बाबूजी समझाते. मां समझाती. कामिनी को वापिस ले आने को कहते तो वह चुप्पी लगा जाता और अपने कमरे में अपने आप को बंद कर लेता था.

मां अपने पुत्र की हालत देखकर परेशान हो जाती. भला वह अपने पुत्र को दुःखी देख भी कैसे सकती थी. जानती है वह कामिनी ज़िद्दी है. फिर करोड़पति बाप की इकलौती संतान भी. उसने जिद पकड़ ली तो पूरा कराये बग़ैर वह कब मानी है ! उसके पिता उसकी हर ज़िद्द पूरी कर देते थे. मां-बाप को हक़ है कि वे अपने बच्चों की जिद पूरी करें. पर हमेशा यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि वह आदत में न बदल जाये. नदी को अपनी निर्बाधगति से बहना ही चाहिए. पर यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि तटबंध मजबूत होना चाहिए अन्यथा वह अपनी उदंडता के साथ बस्ती उजाड़कर रख देगी.

वे नारी स्वतंत्रता की प्रबल पक्षधर रही हैं. पर यह भी याद रखा जाना चाहिए कि स्वतंत्रता कहीं स्वच्छंदता में न ढल जाये. उसे तो यह भी समझाना आवश्यक है कि देह के भीतर और देह के बाहर भी बहुत कुछ है.

अजय को उन्होंने संस्कार दिये. पता नहीं कहां कमी रह गयी कि बीज ढंग से अंकुरित नहीं हो पाया. रह-रहकर एक बवंडर सा उठता मन में. रह-रहकर बीती बातें याद आतीं. शादी से पूर्व उन्होंने कामिनी को लेकर जो अंदाज लगाया था. वह शतप्रतिशत सच ही निकला. संबंध हमेशा बराबरी वालों से किया जाता है. यह सिद्धांत जानते बूझते हुए भी अनमने मन से उन्हें संबंध स्वीकार करना पड़ा था. अजय की ज़िद्द की खातिर वे अंततः झुकने को विवश हुए थे.

❑

शाम के समय छत पर बैठी कांता सूरज को अस्ताचल में जाता देखती रही थी. ललछौंही किरणों से पीपल के पत्ते संवलाने लगे थे. पक्षियों के दल लौटने लगे थे. वे अपने मुंह में दाना-चुग्गा भर लाये थे अपने शिशुओं के लिए. दाना चुग्गा खिलाकर वे आपस में बतियाने लगे. दूर तक उड़कर जाते फिर डाल पर लौट आते थे. शायद अपना कौशल दिखा रहे थे. सूरज अपनी अंतिम किरण समेटकर पहाड़ के उस पार उतर चुका था. एक सुरमई अंधियारा छाने लगा था. सारे पक्षी सांध्य-गान गाने लगे थे. बूढ़े पीपल की देह में झुरझुरी भर आयी थी. वह भी तालियां बजाकर पक्षियों का उत्साह-वर्धन कर रहा था.

अपनी अंतिम किरण समेट लेने के पूर्व, सूरज इस बात को देखता चला था कि उसके अपने परिवार के सदस्य आनंदमग्न

हो गीत गा रहे हैं. खुशी में वे झूम भी रहे हैं. वह चाहता था कि इस तरह सब कुछ चलता रहना चाहिए. वह इस आशा के साथ दक्षिणायन के पथ पर बढ़ चला था कि जब वह नये रूप में पूरब से उगे तो उसका समूचा परिवार इसी तरह आनंद में डूबा मिले. हंसता-गाता मिले और पूरे जोश-खरोश के साथ उसका स्वागत भी करे.

छत पर सुबह-शाम टहलना, बैठना अब कांता की दिनचर्या हो गयी थी. रोज़ खगोलिया घटना को घटते देख उसे अपार खुशी मिलती थी. पक्षियों की गति-विधियों को भी देखते रहना उसकी दिनचर्या हो गयी थी. उसे यह जानकर बेहद खुशी भी हुई थी कि भिन्न-भिन्न प्रजाति के मूक-पखेरू किस तरह हिलमिल कर जीते हैं. कैसे अपने परिवार को चलाते हैं, जहां लड़ाई-झगड़ा विवाद के लिए ज़गह नहीं होती. उसने देखा था, पक्षियों के बच्चे जब अबोध होते हैं, कोटर में ही रहते हैं.

मादा, शिशु को चुग्गा-दाना देती रहती है. जब उनके पंख उगने शुरू होते हैं तो उन्हें उड़ना भी सिखाती है. कभी-कभी तो वह अपने शिशु को धकियाते हुए घोंसले से बाहर भी धकेल देती है ताकि वे जल्दी उड़ना सीख जाये.

बच्चे जब जवान होते हैं तो अपनी पसंद का जीवन-साथी चुनते हैं. जोड़ा बनाकर ही वे गर्भाधान की प्रक्रिया अपनाते हैं. मादा के गर्भवती होते ही दोनों मिलकर अपना नीड़ बनाने में व्यस्त हो जाते हैं. तिनका-तिनका जोड़कर घोंसला बनाया जाने लगता है.

नीड़ के बनते ही मादा अंडे देती है और सेती है तब तक, जब तक शिशु बाहर नहीं आ जाता. अब नर पक्षी की ड्यूटी बनती है कि वह मादा की देखभाल करे तथा उसका उदर पोषण भी करवाये.

उसने एक बात शिद्दत के साथ नोट की थी कि घोंसला केवल एक बार ही बनता है. उसका उपयोग बाद में नहीं होता. जब शिशु जवान होकर घोंसला छोड़ चुका होता है तो बे-लगाम हवा उन घोंसलों को अपने थपेड़ों से तहस-नहस कर डालती है. अपने उजड़ते हुए घोंसले को वे वैराग्यभाव से देखते भी जाते हैं. घोंसलों का मोह उनके मन में तब तक बना रहता है, जब तक उसमें पक्षी के बच्चे चहचहाते रहते हैं. जिसे छोड़ दिया, उसका क्या मोह. शायद यह निष्काम भाव, वैराग्य-भाव वे प्रकृति के सानिध्य में रहकर ही सीखते हैं.

कांता को सूत्र मिल गया था. सूत्र इस प्रकृति की मूक भगवत गीता भी थी. वहां कोई अर्जुन नहीं है. वहां कौरवों की फौजें भी नहीं हैं. वहां मान-सम्मान की कोई भूख नहीं है. न ही अपमानित होने पर प्रतिशोध के लिए धधकती अग्नि. न राज, न पाट. वहां कृष्ण भी नहीं थे. होना भी नहीं चाहिए था. वे वहां हो भी कहां सकते थे !

लघुकथा

महत्व

✍ नरेंद्र कौर छाबड़ा

मोहल्ले का कूड़ा करकट जिस कूड़ेदान में डाला जाता है उसके आसपास भी ढेर सा कचरा बिखरा पड़ा रहता है. पॉलीथीन की थैलियां, अख़बार के टुकड़े, नारियल के छिलके, टूटे-फूटे कप प्लेट, चप्पल, कपड़ों की चिंदियां और भी न जाने क्या...क्या...

अभी भी उस कूड़े के ढेर पर गाय, बकरियां, कुत्ते मुंह मार रहे हैं, साथ ही बेहिसाब मक्खियों का झुंड भी उस गंदगी के ढेर पर भिनभिना रहा है. इतने में दो बालक, उम्र होगी दस-बारह वर्ष हाथों में टाट के थैले थामे कूड़ा बीनने वहां आ पहुंचे. गाय, बकरियां, कुत्ते और बच्चे सभी अपने-अपने काम की चीज़ें उस ढेर में से ढूंढ़ रहे हैं.

अचानक एक बच्चे के हाथ में किसी पाठ्य पुस्तक का ऊपरी पृष्ठ आया जिस पर भारत का नक्शा, तिरंगा झंडा और कुछ राष्ट्रीय नेताओं के चित्र छपे थे, उसने दूसरे बच्चे को दिखाते हुए पूछा - 'देख तो यह क्या है ?'

'पता नहीं, होगा कुछ भी, पर अपने काम का नहीं.'

तभी उसकी नज़र दूसरी ओर गयी जहां किसी फिल्मी पत्रिका के पन्ने बिखरे पड़े थे. उसने झपटकर उसे उठा लिया - 'देख तो यह क्या है ?'

'अरे, यह तो अपनी श्रीदेवी है और यह माधुरी और यह अमिताभ !' उनकी आंखों और चेहरे की चमक अनायास बढ़ गयी थी - 'इसको अपनी खोली की दीवार पर लगायेंगे....' दोनों ने बैठकर अपनी मैली-कुचैली फटी कमीज़ से उन पन्नों पर लगी गंदगी साफ़ की और तह करके अपनी जेब में रखा, फिर इत्मीनान से कूड़ा बीनने में जुट गये.

✉ *१८४, सिंधी कालोनी, जालना रोड, औरंगाबाद ४३१००५ (महाराष्ट्र)*

बिना सुने वह गीता का भाष्य सुन चुकी थी. बिना देखे वह कृष्ण की उपस्थिति का अहसास भी कर चुकी थी.

कांता ने रामप्रसादजी को छत पर बुलाया. कुर्सी पर बैठते हुए प्रकृति के उत्तम सोपानों की व्याख्या कह सुनायी. नीड़ बनाते जोड़ों व नीड़ गिराती हवा को प्रत्यक्ष दिखाने लगी.

रामप्रसादजी ने कांता की आंखों में भीतर तक झांका. एक नीला अनंत सागर विस्तार के साथ फैला हुआ था. कुछ हद तक असहमत होते हुए भी उन्होंने सहमति प्रदान कर दी थी. वे इस बात पर सहमत हो गये थे कि अजय को भी अपना नीड़ बनाने की स्वतंत्रता है. कल सुबह ही वे उसे बंधन मुक्त कर देंगे ताकि वह नीलगगन में अपनी उड़ान भर सके. बादलों को बलात हटाते हुए एक नया सूरज आसमान में चमचमाने लगा था.

✉ *१०३ कावेरी नगर, छिंदवाड़ा (म. प्र.) ४८० ००१*

नेपाली कहानी

लावारिस

परशु प्रधान

मुझे नहीं मालूम कब मेरे पैर काठमांडू एयरपोर्ट पर पड़े. जब से न्यूयॉर्क में हवाई जहाज में बैठी, मैं होशोहवाश में नहीं थी. सोच रही थी - कहां हूं ? क्यों हूं ? और क्यों नेपाल जा रही हूं ? लेकिन सोच का यह सिलसिला बीच में ही टूट जाता और मां का अशक्त, असमर्थ चेहरा मुझसे पूछता - "कान्छी, क्या तू मेरा मुंह देख पायेगी ? मुझे यकीन नहीं."

मैं अपने को ही समझाती - मां का मुंह देखूंगी, उनके अंतिम दर्शन करूंगी. क्योंकि मुझे मालूम था - वह चेहरा अपनी अंतिम किनारों में है, स्वरों में है. डूबता हुआ पिताजी का वह चेहरा अब भी सपने के किसी छोर में पूछ रहा होता है - 'अपने अंतिम समय में सिर्फ़ तुमको याद किया, सिर्फ तुमको. अपनी छोटी बेटी सृजना को.'

मैंने संकल्प किया - वह भूल, वह इतिहास न दोहराऊंगी. उसी पश्चाताप की आग में फिर न जलूंगी. मैंने तब झट टिकट लिया और जहाज में बैठ गयी. मन में सिर्फ़ एक ही आवाज गूंज रही थी - "मम्मी सीरियस हुनुहुन्छ - बेवारिश हुनुहुन्छ" (मम्मी सीरियस हैं - लावारिस हैं). टेलिफोन के सिर्फ दो शब्द मेरे मन में थे - और ये शब्द थे 'सीरियस' अंग्रेजी और 'बेवारिस' नेपाली. हवाई जहाज के कई यात्रियों के बीच मैं अकेली थी जैसे जंगल में खोया हुआ कोई पखेरू. पहले जब काठमांडू में थी तब भी लगता - कुछ नहीं मिल रहा है - किसी चीज़ की कमी है. कुछ न होने का एहसास मेरा हरदम पीछा करता रहा. न जाने क्यों अमरीका पहुंचकर भी वह एहसास मेरा पीछा नहीं छोड़ सका. लगता है मैं कहीं शून्यों के बीच में हूं, अभावों के बीच में हूं और नहीं होने के एहसासों के बीच में हूं.

जब अस्पताल पहुंची तो वहां की दुर्गंध से एक पल सांस फूल गयी, लगा - कौन से नर्क में आ पहुंची. नाक बंद कर भीतर घुसी और सीढ़ियां चढ़ने लगी. बाहर की दूषित गंध भीतर भी सराबोर थी. अचानक कमरे में मां का चेहरा दिखाई दिया और मैं डर गयी - वह मात्र नर कंकाल का ढांचा जैसा था.

"मां आंखें खोलो ! मैं आ गयी" - मैं अचानक चिल्ला उठी. मेरी आवाज सुनकर उन्होंने आंखें खोलीं. वे आंखें शुष्क थीं, उनमें कोई कहीं पानी न था.

"कैसी हो मां ?" मैंने पूछा. उन्होंने फिर आंखें खोलीं और धूमिल स्वर में कहा - "सृजना, तू अमरीका से मेरा मुंह देखने चली आयी...अब मेरा तो आखिर समय है."

'अब मेरा आखिर समय है..' मेरे गले में गाठ पड़ गयी, आंसू छलकने को हुए. लगा कहीं भयावह सुरंग में प्रवेश कर रही हूं. "मां, मैं आ गयी अब...आपको अमरीका ले जाऊंगी, वहीं दवा कराऊंगी...मां, मेरी मां ! अब फिक्र मत करो." मैं आवेश में थी. मन कह रहा था बहुत जोर से रोऊं. इतना रोऊं कि आकाश थर्रा जाये. लेकिन वह समय उसके लिए नहीं था.

थोड़ी देर में बड़े भैया आ पहुंचे और हड़बड़ाने लगे - "सृजना तू आ गयी. परसों ही तो तुझसे बात हुई थी. तेरी आने की बात नहीं थी. इतनी जल्दी, कैसे अचानक..."

"ये मेरी भी मां है बड़े भैया. मुझे और आपको जन्म देनेवाली मां. इधर मां की यह हालत...मैं कैसे न आती ?" मैंने उन्हें दंडवत किया. फिर क्यों मैं अपने ही भीतर रोने लगी...

"ब्रेन हैमरेज का डर था, लेकिन हुआ नहीं. एक साइड में पैरालाइसिस है. डॉक्टर साहब कहते हैं घर ले जा कर दवा कर सकते हैं. लेकिन..."

इसी बीच डॉक्टर साहब आ पहुंचे और गरजे - "मैंने आप लोगों को मां को घर ले जाने को नहीं कहा था क्या ? पांच दिन से डिस्चार्ज पेपर्स तैयार हैं. सोच क्या रहे हैं आप लोग ?"

डॉक्टर साहब ने मां का ऊपरी परीक्षण किया और पहले की बात पर जोर देने लगे - "कल से मैं इन्हें नहीं देखने वाला. घर में देने के लिए दवाएं लिख दी हैं. अच्छी तरह से देखभाल कीजिएगा."

मैंने फिर मां का चेहरा देखा. और लगा जैसे डूबता हुआ सूरज हो. वे ज़िंदगी के अंतिम और सच्चे पल में थीं. मैं थोड़ी देर के लिए विगत में चली गयी - जहां पिताजी भी थे. कितना प्रिय और घनिष्ठ संबंध था मां-पिताजी का. पड़ोसियों के लिए वे आदर्श जोड़ी थे और थे ईर्ष्या के पात्र. मां, पिताजी और सब की प्रिय पात्रा थी मैं, छोटी सृजना उर्फ़ सूजू. घर में कोई त्यौहार हो, मुझे नये कपड़े देने की बात छिड़ जाती. घर में कोई मेहमान आये, तो मेरी तारीफ़ों के पुल बांध दिये जाते. मेरी सुंदरता और अच्छे नसीब की बातें मैं खुद नहीं समझती थी - क्या मायने हैं इन सब के ?

इतने में छोटे भैया आ पहुंचे. कमरे में प्रवेश करते ही चौंक गये. "अरे तू आ गयी." मैंने उन्हें प्रणाम किया. कमरे का वातावरण कुछ बोझिल सा हो गया. बड़े भैया ने छोटे भैया की तरफ़ देखा जैसे कुछ कहना चाह रहे हों, लेकिन बोले कुछ नहीं. उसी तरह छोटे भैया ने मेरी तरफ़ देखा और कहने लगे - "क्यों बिन बताये चली आयी, एक फोन तो कर सकती थी कम से कम."

"छोटे भैया, समय न था. मुझे बस इतना लगा जैसे उड़कर यहां पहुंचू. मुझे डर था कहीं मां के अंतिम दर्शन न कर सकूं. परंतु मेरे भाग्य ने साथ दिया. कम से कम मां के दर्शन तो मैं कर सकी," - मैं सहज होना चाह रही थी.

फिर वहां बड़ी भाभी भी आ पहुंची, हम सब लोग अनायास सचेत हो गये. मुझे अचानक वहां देखकर बड़ी भाभी चौंक गयीं - "ननदरानी भी अमरीका से आ गयीं, क्यों कुछ इत्तला नहीं की ? हूं... करीब एक सप्ताह हो गया डॉक्टर साहब ने मां को घर ले जाकर दवा कराने की बात कही हुई थी. लेकिन हम लोग ही कुछ तय न कर पाये." मैं जबाब नहीं दे सकी. लगा भाभी सारा इतिहास सुनाने जा रही हैं. वह न रुकीं, "ननदरानी भी आ गयीं, अब मुश्किलें हल हो सकती हैं. ननदरानी, मैं तो मां को घर ले जाकर दवा दारू कराने की स्थिति में नहीं हूं. ये और मैं सुबह आठ बजे एक साथ काम पर निकलते हैं और शाम सात बजे लौटते हैं. इस स्थिति में दिनभर मां की देखभाल कौन करेगा? बच्चे स्कूल चले जाते हैं. घर में तो ताला लगा रहता है." भाभी ने अपनी लंबी दास्तान सुनायी.

समय फिर थम गया.

भाभी के इन शब्दों ने मां की आंखें खोल दीं. उन्होंने हम सबको गौर से देखा. कमरे के चारों तरफ आंखें दौड़ायीं और फिर पलकें बंद कीं. मैं एक बार उन्हीं में रूपांतरित हो गयी और पहुंची भविष्य में - यही क्षण आगे मेरी ज़िंदगी में भी आयेगा. समय, स्थान और वातावरण फ़र्क हो सकते हैं. मैंने मन में हम सबको धिक्कारा. इसके पहले कि मैं अपना मुंह खोलती छोटे भैया बोल पड़े - "भाभी बिलकुल ठीक कह रही है. मैं उन्हें गलत नहीं कह सकता. लेकिन मेरी भी मजबूरी है कि मैं मां को नहीं ले जा सकता. बहू को गर्भाशय का कैंसर हुए बरसों बीत गये. वह चारपाई पर पड़ी है. मुझे उसी की सेवा टहल से फुरसत नहीं है. एक बीमार के ऊपर दूसरी ले जाकर मैं क्या करूं ?"

"तू कैसे यह कह सकता है ? जब मां का सब कुछ तू उपभोग कर रहा है." बड़े भैया ने बीच में ही टोंका. इस वक़्त नर्स भीतर आ पहुंची - "आप लोग क्या मशवरा कर रहे हैं ? माझियों की सलाह कहीं नाव न डुबोये. आज भी मां को घर नहीं ले जा रहे हैं क्या..." नर्स कह बैठी. उसने थर्मामीटर लगाके ज्वर नापा और मां को एक कैप्सूल निगलने को कह कर चली गयी.

परशु प्रधान

पिछले ४० वर्षों से नेपाली में कहानियों का सृजन. दस कहानी-संग्रह प्रकाशित. कई कहानियां हिंदी, बंगाली, अंग्रेजी और जापानी में अनुदित. शीघ्र ही एक कहानी संग्रह अंग्रेजी में प्रकाश्य.

"तो क्या मैं मां को अमरीका ले जाऊं," मैं कहने को मजबूर हो गयी. मुझे मालूम था - मुझे यही कहना पड़ेगा. कुछ वर्षों में ही यहां के समाज की अधोगति के बारे में मैं अखबारों में पढ़ चुकी थी. जहां एक पति पत्नी को मुंबई ले जाकर बेच रहा है, एक भाई अपनी बहन को जबरन वेश्या बना रहा है, ऐसे समाज में मुझे लगा मैं ठीक प्रस्ताव पेश कर रहीं हूं. मैं सत्य के बहुत नज़दीक हूं.

मेरे भाइयों ने एक दूसरे की तरफ़ देखा. मुझे लगा वे यही चाह रहे थे. मैं उस कमरे से बाहर निकली और परामर्श के लिए डॉक्टर के यहां पहुंची. और जैसे एक बालक अपना तैयार किया गया पाठ सुनाता है मैंने अनुरोध किया -"डॉक्टर साहब, मैं मां को अमरीका ले जाना चाहती हूं. आप क्या सलाह देते हैं ?"

डॉक्टर साहब भीड़ में थे. उन्हें बहुत रोगियों और अन्य लोगों ने घेर रखा था. फिर भी उन्होंने मेरी तरफ़ आंख उठायी "आप अमरीका में रहती हैं ? ग्रीन-कार्ड होल्डर हैं क्या ?"

"मैं बहुत बरेसों से अमरीका में हूं. मैं सोच रही थी, वहां यहां से अच्छी दवा-दारू हो सकती है. यदि आप अनुमति दें तो.... ..." मैंने कहा.

इसके पहले कि वह मेरे प्रश्न का जवाब देते, पलटकर मुझ से ही अनुरोध करने लगे; "मुझे इस अस्पताल में काम करने को जी नहीं करता. आप क्या उधर मेरे लिए कुछ सहायता कर सकती हैं ?...."

मुझे लगा - यहां सिर्फ डॉक्टर साहब ही अनुरोध नहीं कर रहे, बल्कि सारा राष्ट्र, सारी जनता अनुनय कर रही है, सब मुझसे याचना कर रहे हैं.

"मैं करूंगी डॉक्टर साहब, जो मुझसे बन सकेगा. क्या नहीं हो सकता अगर आप चाहें तो ? लेकिन मैं अभी मां के बारे

में सीरियस हूं.... आप क्या सलाह देते हैं ?" मैंने फिर अपनी कहानी दुहराई.

"ब्रेन हैमरेज से पीड़ित वृद्धा को आप कैसे अमरीका ले जा सकती हैं ? बिलकुल असंभव. उन्हें तुरंत यहां से ले जाइए और आराम करने दीजिए - यही है मेरी सलाह." जब डॉक्टर साहब से सलाह लेकर बेड की तरफ लौटी तो भाई लोग बाहर निकलने की जल्दी में थे.

"हम लोग जाते हैं - ऑफिस पहुंचना है," कहकर वे निकल गये. मैं घबरा गयी - मुझे मालूम नहीं था ऐसे वक्त मुझे क्या कहना चाहिए. वास्तव में मैं नर्वस हो गयी थी. क्या हो रहा है और क्या होने जा रहा है मुझे कुछ भी मालूम न था.

"मां आप कैसी हैं ?" मैंने मां से पूछा. मां ने थकित आंखें खोलीं और मुझे घूरने लगी जैसे मैं कोई अनजान हूं. और उन्होंने अनुभव किया जैसे वह एकदम नयी ज़गह में हैं.

'मुझे मरने दे.... मुझे और जीने की चाह नहीं. मुझे कुछ नहीं चाहिए.' मैंने मां की आंखों में ये पंक्तियां पढ़ीं. वह जल्दी से सलाइन वाटर पाइप, ऑक्सिजन पाइप वगैरह निकाल फेंकने लगी. मैंने चाहा वह यथास्थिति में हों. अचानक उनकी आंखों में मृत्यु की क्रूरता प्रकट होने लगी. मैंने चिल्लाकर नर्स को बुलाया. लेकिन मां शायद अंतिम क्षणों में थीं. उन्होंने सदा के लिए आंखें बंद कर लीं. मैं सिर्फ चिल्लाती रही - "मां... मां... मेरी मां... मेरी मां......"

अनुवादिका : ***कुमुद अधिकारी***

१२३, बुद्ध विहार मार्ग, बिराटनगर-१५ (नेपाल)

एक शबनमी सुबह

✍ **देवदत्त वाजपेयी**

नभ से टपक कर आ गयी
एक और सुबह,
एक सुबह शबनमी
फैल गयी अफवाह-सी गंध
हरश्रृंगार की सब ज़गह,
शिखि का कातर करुण स्वर
उड़ा...
इधर उधर...हलद पांखियों संग
सूरज बरसाने लगा
बस्ती में जागृति का रंग,
झील शांत है
पर...
बोल रही कितने
अनकहे बोल
पवन पूछ रही पीपल के पत्तों से
स्पंदन का मोल,
धूप की चिरैया
मुंडेर पर उड़ आयी,
किरनों ने विदा किया
ठिठुरन को
कहती "गुडबाई,"
स्वास्थ्य के प्रति
जागरूक युवक-युवती
भाग रहे सड़कों पर
नकारते
गुलाबी सर्दी,
चमचम पीतल के कुंभलिये
घूम रही पगड़ी केशरिया
ठौर ठौर बांट रही दूध
कोई
रूप की अनुक्रमणिका
धानी घूंघट से निरख रहा
नयन एक कोई
मन की फुलबगिया में आज
स्नेहलता बोयी ?
घर में, आंगन में, बगिया में
क्यारी में - बरस गयी
कुंदन की किरन-किरन
कामकाज करने को
निकल पड़े...
हर चौखट से...
चरन चरन.

फ्लैट २०२, टॉवर-डी ४, सागर दर्शन, सेक्टर १८, पाम बीच रोड, नेरुल (प.), नवी मुंबई-४०० ७०६

'जब अरुषि कहेगी...!'

अलका अग्रवाल सिगतिया

विश्वास जब टूटते हैं, तब अक्सर हम अपने आस-पास बिंब ढूंढ़ने लगते हैं. आजकल मेरे साथ ऐसा अक्सर होता है. कोलतार की काली सड़क पर घिसटती बस की तरह, रीतेश, असीम, अरू सभी तो घिसट कर आगे निकल गये. खचाखच भरी बस में भी मैं खुद को बहुत ही तनहा महसूस कर रही हूं. पर अकेलेपन के ये साये मुझसे अलग रहे ही कब ? यादों के दायरे फैलने ही लगे थे कि सड़क की धूल उड़कर आंखों में आयी, एकबारगी बहुत गुस्सा आया. फिर अजीब सा विचार पनपा, कम से कम यह धूल तो, मुझे साथ होने का अहसास दिला रही है. पर वह तो मेरा हिस्सा था...!

सड़क पर गायों का झुंड आ गया था और बस रुक गयी थी. मैं बाहर खेतों, पेड़ों और झोपड़ों को देखने लगी. एक बिंब फिर आकार लेने लगा. सामने दो पेड़ खड़े थे, एक ठूंठ, दूसरा हरा भरा. हरे-भरे पेड़ पर कितनी चिड़ियां चहचहा रही हैं, सूखे पेड़ पर बैठी एक चिड़िया भी हरे पेड़ की ओर उड़ गयी थी. कितना साम्य रखता है, यह पेड़ मेरे जीवन से.

अब बस चल पड़ी थी. गड्ढों के बीच हिचकोले खाती बस को जोर का धक्का लगा. सामने बैठी महिला के बच्चे की उंगली खुद उसकी आंखों में चली गयी, वो रोने लगा. मैंने साड़ी के छोर को फूंक मारकर गर्म किया, उसकी आंखों पर हल्का-सा सेंक किया. चुप होकर वह खेलने लगा, उसकी मासूम मुस्कान पर प्यार आया, और मैंने उसे चूम लिया. प्यार से उसे चूमते ही सत्ताइस वर्ष पूर्व का वह स्पर्श याद आया. जब मैंने डरते-डरते अपने बच्चे को गोद में पहली बार उठाया था. आह, कितना स्वर्गिक अहसास था. मेरे भीतर की मां अंदर तक ममता के अमृत से भर गयी थी. उसके माथे को चूमते हुए, पास बैठी अपनी मां से मैंने कहा था - मां देखो, कितना प्यारा है.

- हां....है तो लंबी सास छोड़ते हुए कहा था मां ने....पर... अधूरा वाक्य छोड़ वे दरवाज़े से बाहर निकल गयी थीं.

मां की इस बेरुखी को मैंने उसकी नन्हीं हथेलियों के स्पर्श से परे झटक दिया. उसके गुलाबी होंठ, बंद मुट्ठियां. इसका नाम मैं रखूंगी असीम. असीम शीतलता जो मिली मुझे इसे अपनी छाती से लगाते ही.

अतीत के दायरे फिर बिखर गये थे, बस रुक गयी थी. कन्नौज आ गया था. सामने वाली महिला ने कहा था - आइए बहनजी चाय पियेंगी ?

मैं न नहीं बोल पायी थी. उसने पूछा - फर्रुखाबाद में किसके घर जा रही हैं ?

- मोहन गुप्ता जी के घर...

- अच्छा नमिता...जिनकी बहू हैं...

- आना जाना है, हमारा....उनका बेटा सर्वेश तो...

वो कुछ कहते-कहते रुक गयी. मैंने भी फिर कुरेदा नहीं. कुछ इधर-उधर की बातों के बाद हम बस में चढ़ गये थे. वह बच्चे को सुलाने में व्यस्त हो गयी थी.

मैं सोचने लग गयी थी, नमिता के बेटे के बारे में क्या कहना चाहती थी, वह सर्वेश अब कुछ बीसेक साल का होगा. जब पहली बार मैं आयी थी, तब उसकी बेटी पंखुड़ी हो थी, दूसरी बेटी, भूमिजा और और सर्वेश तब नहीं थे. रीतेश से मेरा तलाक होने वाला था.

ये 'तलाक' शब्द जैसे विष बन गया था. मेरे जीवन के लिए. ऐसी फांस थी, जो हलक में अटक कर रह गयी. जब ससुराल से अचानक वापस आयी थी, और घर पर सबको अहसास हो गया कि अब कभी न लौटने के लिए प्रिया वापस आ गयी है, सबका व्यवहार बदलने लगा था. याद है जब दूसरे दिन ही भैया के कमरे के सामने से गुज़र रही थी, भाभी के ये शब्द पारे की तरह कानों में पिघले थे - यह प्रिया जीजी क्या अब यहीं रहेंगी. कुछ भी कहो, शादी के बाद लड़की मैके में अच्छी नहीं लगती, कुछ कहते क्यों नहीं आप लोग ?

- क्या कहें... ये मानती हैं क्या ? जिया भी तो हैं, घरेलू लड़की की तरह रही. जब शादी की, जहां शादी की खुश हैं. अच्छे से निभा रही है, ससुराल में. पर प्रिया ने तो हमेशा अपने मन की की. पहले तो जिद करके पढ़ती गयी. पढ़ लिखकर इसका दिमाग चल गया है. अरे दिखाये होंगे कुछ जलवे वहां भी, तभी तो निभा नहीं सकी दो साल भी ससुराल में... !

मन कसैला हो गया. जीजी जैसी ज़िंदगी जी रही हैं, यह वह समझती है. सुबह से उठकर कोल्हू के बैल की तरह घर के काम पर लग जाना, बित्ता भर पल्लू सिर पर डाले. जहां नहीं अपने कोई सपने, अपने कोई अरमान. साधारण से घर में ब्याह हो गया. मैके आने पर भी कभी मान-सम्मान या दुलार न मिला.

१३ मार्च, कटनी (म. प्र.),
बी. एस-सी., एम. ए. (अंग्रेजी) व एम. ए. (हिंदी)
लेखन : देश की अनेक पत्रिकाओं व समाचार पत्रों में कहानियां प्रकाशित. स्तंभ लेखन. रेडियो, टी. वी. के लिए लेखन. कहानी 'अब कोई ग़म नहीं' पर टी. वी. फिल्म.
विशेष : पूर्व में प्रगतिशील लेखक संघ व इप्टा से जुड़ाव. अब 'सार्थक संवाद', 'वामा', 'संगिनी' आदि संस्थाओं से संबद्ध. 'परसाई-मंच' की निदेशक.
संप्रति : 'जनसंचार माध्यम व बदलते सांस्कृतिक मूल्य' विषय पर शोध जारी.

मैं भैया के दरवाज़े से लगकर खड़ी सोच ही रही थी, कि भाभी बाहर निकली थीं - ओह ! प्रिया जीजी, कान लगाके क्या सुन रही हैं. अब तो अपने कमरे में बात करना भी दूभर हो गया. आप हमेशा के लिए जो आ गयीं.

- भाभी...!

- प्रिया चिल्लाओ मत, कमरे से निकलते हुए भैया ने कहा था, थोड़ा दबकर रहना सीखो. खुद का जीवन ख़राब कर लिया, हमारी शांति न भंग करो.

- भैया मेरी गलती क्या...?

वाक्य पूरा करने के पहले ही मां मेरा हाथ पकड़कर ले गयी थीं, - चलो... यहां से.

मैं मां के गले लगकर रोना चाहती थी, पर वहां थी एक कठोर नारी.

- प्रिया...अब भी समझ जाओ. मैके में शादी के बाद रहना आसान नहीं. देखो वापस चली जाओ ससुराल. यहां तो मालकिन भाभी ही रहेगी. उनके आगे तुम ज़बान चलाओ, ये कोई अच्छी बात नहीं है.

बचपन से आज तक की सारी घटनाएं याद आती चली गयीं. हर बात में भेद, कि जय लड़का है, तुम लड़की हो. ये लड़कियों के करने का काम नहीं है. लड़कियों को ऐसे रहना चाहिए, यह न करना चाहिए. कितनी बार मन को मसोसना पड़ा है मुझे. पर हां वह जीजी की तरह एक कठपुतली कभी नहीं बन सकी. सबके मना करने के बावजूद पढ़ी. कहा... जैसे लड़के से शादी करेंगे, मान जाऊंगी. पढ़ने के दौरान और पोस्ट ग्रेजुएशन के बाद शादी के प्रस्ताव आये, कुछ ज़गह मैंने ना किया. पर कई ज़गह खुद भी मना हुआ. पर घर में सब मुझे दोष देने लगे - प्रिया बात क्या है, खुद कोई पसंद कर रखा है क्या ? कब तक घर बैठाये रखेंगे.

मैंने कहा था, मैं गोल्ड मेडलिस्ट हूं, नौकरी करना चाहती हूं, पर साफ़ मना कर दिया गया... कौन बड़ी बात है गोल्ड मेडलिस्ट होना. भैया ने हमेशा ट्यूशन पढ़े. मैं अपने आप पढ़ती थी और हमेशा अव्वल रहती. परिचित, रिश्तेदार अनजाने ही मेरी बड़ाई कर देते, यह भैया को अच्छा नहीं लगता था. पर मेरी क्या ग़लती थी. पढ़ाई पूरी कर भैया की नौकरी लग गयी. एम.बी.ए. करना चाहते थे नहीं कर पाये. बस एम. कॉम. कर लिया था. मेरी लेक्चररशिप के लिए खुद कॉलेज के प्रिंसिपल घर आये थे, पर पापा और भैया ने साफ़ मना कर दिया. हमारे घर में लड़कियां नौकरी नहीं करतीं. बाईस पार कर लिया है, अब तो बस शादी करनी ही पड़ेगी.

पापा ने कब इलाहाबाद फोन कर दिया था बुआ को. बुआ पहले भी जीजी का भला कर चुकी थीं. मैं जानती थी बुआ की सोच कहां तक जा सकती है. और फिर बुआ आयी थीं रिश्ता लेकर. पापा बड़े खुश, - वाह गीता, प्रिया की तो किस्मत चमक जायेगी. - पर इतने पैसे वाले हैं, मानेंगे ? - भैया काहे न मानेंगे. उनकी पसंद है कि लड़की पढ़ी-लिखी हो, सुंदर हो. अपनी प्रिया बिल्कुल फिट बैठती है, इनके सांचे में. लड़के ने चौदवीं में पढ़ाई छोड़ दी थी, काहे कि इत्ता बड़ा बिजनेस जो संभालना रहा.

उसने पापा से कहना चाहा था, - पापा पर लड़का ग्रेजुएट भी नहीं...

उसे डांटकर चुप कर दिया गया था, - यह तो तुम्हें पहले ही समझा दिया गया था, जितना पढ़ना है पढ़ लो. पर लड़के की पढ़ाई-लिखाई आड़े नहीं आयेगी. कब तक बैठी हमारी छाती पर मूंग दलोगी.

उसे लगा क्या सब परिवारों में रिश्ते ऐसे ही तल्ख होते हैं. विरोध छोटी-छोटी सी बातों तक ही हो सकता है. बड़े मामलों में नहीं. सबने उसे यही समझाया था राज करेगी. कार, बंगला, पैसा क्या नहीं है. अकेला लड़का है. एक बहन ब्याह कर अपने घर चली जायेगी. मालकिन तो वही रहेगी. जीजी को देखकर लगा, क्या पता शायद यही अच्छा है. सबके फैसले को मानना तो था ही. और फिर उसकी सगाई हो गयी थी, रीतेश से. राजकुंवर सा ज़ंवाई, पैसा, गहना, गुरिया - अरे लाडो भाग खुल गये तेरे तो...चाची, मौसी सबने कहा. - हाय ऐसा भाग भगवान सबको दे, चाची ने कहा था. पइसा तो अपने पास भी नहीं है, हम भी

अपनी गुड्डो को खूब पढ़ा लेंगे, तो ऐसी ससुराल तो मिलेगी. प्रिया तुम तो सच्ची बड़ी होशियार निकलीं.

अजीब-अजीब से भावों और चेहरों के साथ मुझसे सब यही कह रहे थे. विदाई पर लग रहा था, उन सबको दुःख मेरे जाने का नहीं, मेरी अमीर ससुराल होने का है. मैं भावविहीन थी. अंदर विदाई का दुःख भी नहीं था. क्योंकि मैके से कभी बहुत ज्यादा प्यार तो मिला भी नहीं था. मां-पापा, भैया-भाभी भी अंदर ही अंदर खुश थे, लड़की विदा हुई, अपने घर की हुई.

पहली बार जब भैया मेरी ससुराल मुझे लेने आये, तो बड़ी आवभगत हुई थी उनकी. वहां के वैभव से अभिभूत जब मुझे वापस लेकर लौटे थे, तो मम्मी जी ने सबके लिए कुछ न कुछ दिया था. खूब सारे फल और मिठाइयां थीं. मां ने बड़े घमंड से सब ज़गह बंटवाया था... प्रिया के ससुराल से तो इत्ता आया है कि बांट- बांट के थक गये हम ! मेरे प्रति तो सबका व्यवहार ही बदल गया था. अब मां कभी-कभी बिट्टो, लाली, लाडो भी कह देती थीं. भैया कितना बदल गया विश्वास ही नहीं होता था. मैं भी खुश थी, खुद की खुशियां अब बस सुखी घर-परिवार में ही तलाशने लगी थी. पहली बार मां, पापा, भैया सबका प्यार मिल रहा था. भाभी भी खुश रहती थीं क्योंकि उनके लिए उनके बच्चों के लिए मैं खूब-खूब से तोहफ़े लाती थी. शादी के पहले जो डर था कि रीतेश कैसे होंगे ? इतना पैसा, पता नहीं मेरे साथ कैसा बर्ताव करेंगे. पर यहां मुझे सबसे बहुत अच्छा व्यवहार मिल रहा था. मम्मी जी कुछ ज्यादा ही ध्यान रखती थीं. रीतेश के साथ हनीमून पर भी मॉरीशस गयी थी. यह सब कुछ अप्रत्याशित था. पर ज़िंदगी में पहली बार इतनी खुशियां, विश्वास ही नहीं होता था कि मुझे मिल सकती थीं. पर शादी के कुछ महीने बीतने के बाद रीतेश कुछ बदलने से लगे थे. दिन में पहले खाना खाने घर आते थे, अब बंद कर दिया था. रात को भी अक्सर देर हो जाती थी. मैं इंतज़ार में भूखी बैठी रहती. पर रीतेश आते तो मालूम चलता वो बाहर खाकर आ गये हैं.

मैं सहमी-सहमी सी रहने लगी कि कहां गलती हो गयी है. मम्मी जी, सीमा भी क्या सोचती होंगी ? उस दिन सोचा था आज पूछूंगी रीतेश से. उस रात ग्यारह बजे आये थे. खुद को संवारा था, कई दिनों बाद. कितने दिनों से रीतेश ने मुझे छुआ भी नहीं था. पर जब रीतेश आये, वैसा कुछ नहीं कर सकी. चेंज करके रीतेश करवट बदल कर लेट गये थे. आखिर उधेड़बुन से शब्द बाहर निकले थे...रीतेश, कुछ पूछना है.

- पूछो...!

- आजकल क्या मुझसे...?

पलटे थे रीतेश...गाल थपथपाकर बोले - प्रिया क्यों परेशान हो... देखो एक तो तुम खाने के लिए मेरा इंतज़ार मत किया करो. बिजनेस बहुत बढ़ता जा रहा है. अकेले ही तो संभालना है. टेक इट इज़ी. और फिर प्यार से बालों को सहलाकर कहा था - सो जाओ. तन-मन की इच्छा अंदर दब गयी थी, पर रीतेश के दुलार भरे स्पर्श ने मुझे निश्चिंत कर दिया था. मैं उस रात बच्चों की तरह गहरी नींद में सो गयी थी.

दूसरे दिन सुबह जब कमरे से बाहर आयी, मम्मी जी रीतेश से कुछ कह रही थीं. मेरे पहुंचते ही चुप हो गयी थीं. रीतेश ने मुझे देखकर कहा था, - हां ममा, अब आपकी बहू को शिकायत का मौका नहीं दूंगा, बस ! मम्मी जी ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे बैठाया था - चलो आओ प्रिया बैठे इसके साथ नाश्ता करो. रामू लाओ, बहूजी के लिए, गरम-गरम चिल्ला बना कर लाओ. आंखों में मम्मी जी का लाड़ देखकर आंसू आ गये थे.

एक दिन मम्मी जी के साथ बाज़ार गयी थी, साड़ी की दुकान से बाहर निकलते हुए अचानक नज़र सामने गयी, रीतेश कार से निकल रहे थे. मैं साड़ी उनसे पसंद करवाना चाहती थी. पर साथ में एक लड़की दूसरी ओर से निकली. दोनों दूसरी ओर चले गये. मम्मी जी भी वहीं देख रही थीं, जैसे ही मैंने उनकी ओर देखा - बोलीं सेक्रेटरी है. चलो साड़ी पसंद कर लो. मैं अनमनी सी मुड़ी थी. कौन होगी वह ! मम्मी जी झूठ क्यों बोलेंगी. उस रात को रीतेश जल्दी लौटे थे. - प्रिया, जब तुमने मुझे बाज़ार में देख लिया था, तो बुलाया क्यों नहीं. देखो, मैं खुद तुम्हारे लिए अपनी पसंद की साड़ी लाया हूं. मैं फिर निर्मल हो गयी थी. मन में कुछ भी नहीं था - देखिए, मैंने ये साड़ियां पसंद की हैं.

- ऊं हूं....मज़ा नहीं आया. कल मैं और ला दूंगा.

आजकल अक्सर ऐसा होता, जब रीतेश कहते, नहीं-नहीं तुम्हारी पसंद अच्छी नहीं है. पर मैं समझा लेती मन को, हो सकता है. उस दिन फिर रीतेश का स्पर्श मेरे तन-मन को भिगो गया था.

रक्षा बंधन आने वाला था. पापा का फोन आया था. प्रिया को लेने जय आ जायेंगे, आप लोग जब भेजें. सबको उसकी बहुत याद आ रही है. रीतेश ने कहा था, प्रिया मन तो नहीं लगेगा पर जाओ. जब जाओगी ही तो आराम से महीना दो महीना रह लेना. मम्मी जी ने कहा था, रीतेश जाओ प्रिया को अच्छा सा सेट दिला लाओ, साड़ियां दिला लाओ, हमारी बहू, जब मैके जाये तो पता चले, ससुराल में कितनी, खुश है ? आज पता नहीं क्यों अचानक लगा मैं क्या वही प्रिया हूं, जिसकी खुशी थी किताबों में, पेंटिंग में. उस दिन मैं जब रीतेश के साथ बाजार गयी, तब मैंने कहा था, मैं कुछ अच्छी किताबें खरीदना चाहती हूं. उस दिन पहली बार मैंने शादी के बाद कुछ किताबें खरीदीं. फिर ढेर से साजो-सामान के साथ मैं भैया के साथ विदा हो गयी थी. घर पहुंची तो जैसे सब पलक पांवड़े बिछाकर मेरा इंतज़ार कर रहे थे. मां ने पीढ़ा लगाकर मेरी नज़र उतारी थी. पापा मेरी पसंद की चाट लेकर आये थे. भाभी ने बड़ा अच्छा खाना बनाया था.

भैया आगे पीछे डोल रहे थे. मां ने कहा - चल लाडो नहा धो ले, खाना खा ले. सच बड़ी सुंदर हो गयी है, नज़र न लगे...बलैंया ली थीं मां ने.

- मां, जीजी नहीं आयेगी राखी पर ?

भाभी बोली थीं, - हां कह तो दिया है, अब इनको तो जाने का टाइम हैगा नहीं. आ जायेंगी. मुझे सुनकर अच्छा नहीं लगा. पर कह कुछ नहीं सकी थी. जीजी भी अपने आप आ गयी थीं. मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता, उनके बच्चों को भी भाभी अक्सर डांट देतीं. दो बेटे थे उनके. कभी कभी लगता, भाभी की जलन भी सामने आ जाती थी, क्योंकि उनके दोनों बेटियां थीं. अक्सर बातों-बातों में निकल जाता - भैया...हमें तो हाथ खींच के चलना पड़ेगा... दो-दो कर्ज़ हैं. मेरा भी मन होता...अब मैं भी मां बनूं. मां बनकर ही तो पूरी हो पाऊंगी मैं ! एक महीना होते ही मां, भाभी को चिंता होने लगी...प्रिया की ससुराल से बुलावा नईं आ रहा है. रीतेश का फोन कभी-कभी आता. कहते प्रिया तुम्हारी कमी अखरती है, पर कोई बात नहीं, जब तुम्हारा मन करे आ जाना. आखिर मम्मी जी का फोन आया था.

- रीतेश लेने आयेंगे, रुक नहीं पायेंगे, आप प्रिया को भेजने की तैयारी रखें.

यह ख़बर आते ही सब बड़े खुश हो गये थे. बाजार से चार साड़ियां खरीदी गयी थीं. दो मम्मी जी के लिए, दो मेरे लिए. सीमा के लिए ड्रेस लायी गयी थी. रीतेश के लिए शर्ट ली गयी थी. बाजार में भाभी की कोशिश यही होती कि पैसा कम खर्च हो, जबकि पापा अभी कमा रहे थे. मैं सोचती भाभी की मानसिकता के बारे में... खुद लेने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती, परेशानी तो ननदों को देने में होती है. मेरी तो ससुराल की हैसियत का ध्यान रखना पड़ता पर जीजी को तो कुछ भी उठाकर दे दिया जाता. हां, रीतेश आये तब पूरी कोशिश की थी सबने कि जंवाई, राजा की खूब आवभगत कर लें.

मन में खयाल आ रहा था. अकेले होते ही रीतेश, एक बार तो अपना प्यार ज़रूर जतायेंगे...पर ऐसा कुछ नहीं हुआ. चलते-चलते भाभी ने कहा था - प्रिया जीजी अबकी छुट्टियों में मिति को आपके यहां भेज देंगे घुमा देना, लखनऊ में भूल-भूलैयां वगैरह भी है. पास है लखनऊ, पर हम जा ही नहीं पाते.

ससुराल पहुंची तो मम्मी जी के पैर छुये, तो उन्होंने आशीष दिया - दूधो नहाओ, पूतो फलो. मैंने रीतेश की ओर देखा पर उनके चेहरे पर कोई भाव नज़र नहीं आया.

नहा धोकर रीतेश बाहर निकल गये थे. मेरे अंदर भावनाएं मचल रही थीं कि कमरे में पहुंचकर रीतेश मुझे नहला देंगे अपने प्यार से. फिर मैं कहूंगी.... मम्मी जी ने जो आशीष दिया है... पर वो बाहर निकल गये थे और रात को देर से आये.

- रीतेश...कुछ कहना है...!

- प्रिया आज कुछ नहीं...नींद आ रही है...कल बात करेंगे. दूसरे दिन सीमा ने कहा भाभी चलो एक अच्छी मूवी आयी है, बाजू वाली स्वाति भी चल रही है, मम्मी से पूछ लिया है, उन्होंने कह दिया है. यहां ज्यादातर काम रामू कर लेता था, मैं चली गयी थी. इंटरवल में अचानक मैंने रीतेश को देखा...वही लड़की साथ थी. मैं सीमा से पूछना चाहती थी पर स्वाति भी साथ थी. फिर मूवी में मेरा मन नहीं लग रहा था, - सीमा दीदी मेरा बहुत सिर दुःख रहा है...मैं...

- ठीक है भाभी आपको ड्राइवर ले जायेगा, मैं स्वाति के साथ रिक्शे से आ जाऊंगी.

जब घर पहुंची तो मम्मी जी भी नहीं थीं, सिर्फ़ रामू था. मैं सीधी ऊपर अपने कमरे में चली गयी. कौन है वो लड़की, आख़िर रीतेश उसके साथ मूवी... ! मम्मी जी ने तो कहा था, सेक्रेटरी है. वह वैसे ही पड़ी रही. शाम को सीमा कमरे में आयी. भाभी मम्मी खाना खाने बुला रही हैं.

- सीमा दीदी...मेरा सिर दुख रहा है, रास्ते की नींद भी है. मैं आज खाना नहीं खाऊंगी. नींद आ रही है.

रीतेश जब आये, लाइट ऑन की - प्रिया जाग रही हो कैसी है तबीयत ?

- कौन है वो...?

- कौन ?

- वही जो आपके साथ पिक्चर में...?

- तो तुम भी वही मूवी देखने गयी थीं. मेरे कोई क्लायंट आये थे, मैं निशा और क्लायंट गये थे, समझीं. अच्छा इसीलिए मैडम का मूड ख़राब है. रुको मैं रामू से खाना यहीं मंगवाता हूं.

खुद पहला निवाला रीतेश ने खिलाया. साथ ही दोनों ने खाना खाया.

- कल क्या बात करनी थी ?

- रीतेश मैं चाहती हूं कि हम भी मम्मी-पापा...!

- क्या जल्दी है, अभी बच्चे का क्या करना है ? देखो यह सब झंझट...

- पर मैं चाहती हूं...

- ठीक है सोचेंगे. अभी तो ज़िंदगी के मजे लो. हां आज एडल्ट मूवी आ रही है...बहुत दिन से तुम थी भी नहीं...बहुत मिस किया.

और उस रात...रीतेश के स्पर्श ने फिर मुझे समझा दिया था कि और कोई लड़की की बात भी बेमानी है. दूसरे दिन मैं खुश थी. मम्मी जी से जिक्र भी नहीं किया कल फिल्म की बात का. पर बस खुशी के ये दस-पंद्रह दिन ही निकले होंगे कि अचानक एक दिन जब मैं कमरे में पहुंची, रीतेश किसी से फोन पर बात कर रहे थे. मैं दरअसल उन्हें कुछ दिखाना चाहती थी, इसलिए दबे पांव पहुंची थी.

- देखो डियर, सिर्फ ममा के लिए मैंने शादी की है. प्यार तो मैं सिर्फ़ और सिर्फ़ तुमसे करता हूं. दो-तीन बार प्रिया ने मुझे तुम्हारे साथ देख भी लिया है. पर हर बार मैंने उसे झूठ कह दिया. पहली बार तो मां ने बात सम्हाल ली. दूसरी बार, सीमा ने मुझे फोन कर दिया था.

आगे क्या बातें हुईं, उसे कुछ पता नहीं. ...तो मम्मी जी और सीमा को पता था...उन्होंने ! इसलिए वे लोग गरीब घर की लड़की लेकर आये, ताकि दबकर रहे. उसके हाथ का सामान गिरा, आवाज हुई रीतेश ने पलटकर देखा - प्रिया !

उसने फोन डिस्कनेक्ट कर दिया. वापस घंटी बजी फोन पर उसने कहा - मैं बाद में बात करता हूं.

- रीतेश...इतना बड़ा झूठ !

फिर घंटी बजी...सामने से जो भी बोला गया हो, इस बार उसने फोन सुना था - हां ठीक है, ऐसा ही करूंगा.

- कौन सा झूठ...? ठीक है, अब तुम जान ही गयी हो, तो सुन लो, मैं और आयशा पांच साल से जानते हैं, एक दूसरे को. एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते !

- आयशा...पर मम्मी जी ने तो निशा नाम ?

- हां मालूम है मुझे.

- तो शादी मुझसे क्यों की ?

- क्योंकि ममा...उसे अपनी बहू कभी नहीं बनायेंगी, वो मुस्लिम है और हां...प्रिया...ठीक है, तुम्हें भी यहां मान-सम्मान सब मिलेगा, पर आयशा भी अब यही चाहती है कि, मैं ज्यादा वक़्त उसके साथ रहूं.

प्रिया खड़ी रह गयी और रीतेश निकल गये थे. मेरी खुशियां...तो वे सब मृगमरीचिका थीं. कितनी खुश थी मैं. अपनी डायरी निकालकर लिखने बैठ गयी थी. जरा देर बाद रामू आया.

- बहू जी, मांजी नीचे बुला रही हैं.

धीरे से उठी, आज अचानक रिश्ते बदल गये. नीचे पहुंची.

- प्रिया...देखो आज चौक वाली चाची के यहां कुंआ पूजन है, तैयार हो जाओ.

पहली बार कहा उसने तल्खी से - मैं नहीं जाऊंगी.

- प्रिया क्या हुआ तुम्हें...उनका दो बार फोन आ चुका है...बहू को ज़रूर लाना...चलना तो तुम्हें है.

- मम्मी जी...आपने मुझसे झूठ क्यों बोला कि वो निशा है. इनकी सेक्रेटरी...जबकि....?

- ओह तो बात यह है...देखो इस बारे में आकर बातें करेंगे, अभी तो तुम जाकर तैयार हो. पीली जरी वाली साड़ी और जड़ाऊ सेट पहनना. वहां बहुत लोग आयेंगे. और हां याद रखना...इस बात का ज़िक्र वहां किसी से नहीं करना है.

प्यार की मूरत सी लगने वाली मम्मी जी आज अचानक तानाशाह जैसी हो गयीं. चुपचाप जाकर उसने कबर्ड खोला. बिल्कुल मन नहीं था भारी साड़ी और गहने पहनने का. न ही कहीं जाने का ....पर यंत्रवत सी सब करती चली गयी. ऐसे लगा, जैसे मन और तन दोनों पर मनों बोझ है. वहां जाकर भी जैसे वह अपने आप में नहीं थी. सब दिखावे में मरे जा रहे हैं. कितनी भारी भरकम साड़ियां, कैसे-कैसे गहने. अनमनी सी वह वहां शरीर से तो उपस्थित रही पर मन में लगातार रीतेश, आयशा... मम्मी जी का बदला व्यवहार सब आ रहे थे. उसने यह तो सुना था कि मम्मी जी ने बी. एच. यू. से पोस्ट ग्रेजुएशन किया है. बहुत पैसे वाले जाने माने घर की लड़की हैं और हमेशा से अपनी चलाई भी बहुत. अब तक उसके सामने वह रूप था नहीं. पर आज देख लिया. कई बार उसे टोंक चुकी थीं, धीरे से, - प्रिया नॉर्मल बिहेव करो. किसी ने कहा, - क्या बात है आज बहूरानी के मिज़ाज कुछ नासाज़ लगते हैं...!

- हां, आज इनकी तबीयत जरा ठीक नहीं.

घर पहुंची तो, घर में घुसते ही कहा, - जाओ कपड़े बदलकर नीचे आओ.

जब वह आयी, वहां सीमा भी आ चुकी थी. मम्मी जी ने रामू से कहा रामू रसोई बंद करके अब तुम सोने जाओ. आज रीतेश खाना बाहर ही खायेंगे. रामू के जाने के बाद उन्होंने कहा, - प्रिया देखो, अब तुम सब जान ही गयी हो, तो बता दूं कि हमने बहुत कोशिश की कि रीतेश, आयशा से न मिलें, पर...यह हो ही नहीं पाया. यह हम समझ गये कि वो कभी मिलना बंद नहीं करेगा. वह भी जिद्दी है, हम भी. एक ही बेटा है, ज्यादा बंधन डालेंगे तो...हम भी मजबूर हैं. पर हां, यह बात है कि उसे हम अपनी बहू कभी नहीं बनने देंगे. तुमको यहां किसी बात की कमी नहीं होगी. और फिर हमने सोचा था पढ़ी-लिखी लड़की से शादी होगी, तो खुद रीतेश को सम्हालेगी. अगर वह अब भी उस आयशा के पास जाये, तो कमी तुममें है.पर हां एक बात बता देते हैं, उसे तुम इस बात को लेकर ज्यादा परेशान मत करना. जाओ अब सो जाओ. रीतेश आज घर नहीं आयेंगे. फोन आया था. और हां, याद रखना मैके में किसी से कुछ मत कहना.

जज ने फैसला सुना दिया था. प्रिया मजबूर है. मैके में भी तो कोई उसका साथ नहीं देगा.

(क्रमशः)

(दूसरी और अंतिम किस्त, अगले अंक में)

सी/१५ मोहम्मदी अपार्टमेंट,
राणी सती मार्ग, मलाड (पू.), मुंबई ४०० ०९७

हर फिक्र को धुएं में....

अलका अग्रवाल सिगतिया

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष और रामनाथ शिवेंद्र से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है अलका अग्रवाल सिगतिया की आत्मरचना.)

गर हर फिक्र को धुंए में उड़ाया होता तो शायद आज वो इस स्तंभ के लिए न लिख रही होती. यह स्तंभ लिखने के लिए कह अरविंद जी, आज आपने उसे रुबरू कर दिया है, खुद से और अपने बहुत से पाठकों से. अतीत के दायरे सिमट रहे हैं, वर्तमान के पन्नों पर. 'कथाबिंब' पर हाथ रखकर वो ये कसम खाती है जो लिखेगी सच लिखेगी पर हां, ज़िंदगी की किताब के पूरे वर्कों को नहीं खोलेगी. क्योंकि उसमें हिम्मत नहीं, बहुत सी लेखिकाओं की तरह ज़िंदगी की कटु सच्चाइयों को अनावृत्त करने की.

उसकी ज़िंदगी शुरू हुई म. प्र. के हृदय शहर कटनी में. कई मायनों में बड़े शहरों से अपनी सोच में आगे. पर फिर भी छोटा शहर, राजस्थानी प्रतिष्ठित व्यवसायिक परिवार में कुछ सीमाओं और संस्कारों के बीच बहुत से सपने पाले बड़ी हुई वो. किसी के लिए 'अनबूझ पहेली' बनी रही, तो किसी के लिए खुली किताब. आज भी इतने सालों बाद भी गैर-महानगरीय सोच उस पर हावी है. महानगरीय खुलेपन ने, कई बार उसे आमंत्रित करने की कोशिश की पर...! कुछ तथाकथित प्रगतिशील लोग कहते हैं, अपनी सोच में खुलापन लाओ. इसी तरह का आक्षेप लगाने पर कि आज जब कहीं कोई बंधन नहीं, आप लोग क्यों अब भी महिलाई मानसिकता में दबी-पिटी लिख रही हैं. उनसे उसने सिर्फ़ इतना पूछा था, कि आप अपने कमरे में पत्नी के साथ एकांत के जो पल बिताते हैं, क्या उन्हें सार्वजनिक स्थल पर बिता सकते हैं. और उस दिन, के बाद से उन महाशय ने फिर कुछ नहीं कहा.

यह बात खलती है, कि आज फ़िज़ाओं में पहले जैसा अपनापन और मासूम अंदाज क्यों नहीं महसूस होता ? उसे भी कुछ तो बदला ही है माहौल ने. कई बार वो सोचती है, काश ज़िंदगी कुछ साल पीछे सरक जाये और वो बन जाये, वैसी ही...!

न कहने पर सामने वाले को तकलीफ़ न हो, इसलिए कई बार वह अनचाही स्थितियों को बिना मन भी स्वीकार लेती है. उसकी यह आदत कभी बहुत पॉपुलर बनाती है तो कभी उस पर 'टेकन फॉर ग्रांटेड' का लेबल लगा देती है. वो हिसाब ही नहीं लगा पाती ज़िंदगी ने उसे कितना दिया है और कितना लिया है. 'आमने/सामने' स्तंभ की शायद अपनी एक सीमा है ! क्या भूलूं, क्या याद करूं ? खैर जो भी लिखूं, उसे जो पढ़े वह अपने हिसाब से आंक ले. हो, सकता है ज़िंदगी की सच्चाइयां कहीं उसकी कमजोरी जैसी लगें, कहीं आत्म-श्लाघा लगे. कभी बहुत अरुचिकर लगे, तो कहीं थोड़ी रुचि भी पैदा हो. अब जो हो, पाठकों को झेलना तो पड़ेगा !

यादें बिखरी पड़ी हैं ज़ेहन पर मॉर्डन पेंटिंग के रंगों के मानिंद. वो उठयेगी ज़िंदगी की सड़कों से बीनकर कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा. आज जबकि वो खुद मां है एक आठ साल के बच्चे की, तब भी उसे बहुत ज़गह छोटा समझकर गंभीरता से नहीं लिया जाता. वो करे क्या, उसे शक्लो सूरत ही ऐसी मिली है कि शायद नानी, दादी बनकर भी... आज तो खैर फिर भी उसके चेहरे पर सरकते वक़्त की परिपक्वता आयी ही है, तब यह हाल है. इससे जुड़ा एक वाकया उसे याद है. उन दिनों वह देश की कई पत्रिकाओं में छप रही थी. जाने-माने लेखकों के पत्र भी मिलते थे. मुरैना के महेश कटारे ने भी उसकी कहानी 'कन्यादान' पर बहुत अच्छा पत्र लिखा. उसके बाद ही जबलपुर में प्रगतिशील लेखक संघ के राष्ट्रीय सम्मेलन में वे आने वाले थे. अपने बारे में उन्होंने कहा जो भी धोती कुर्ता पहना हुआ, मास्टर छाप आदमी मिले, समझ लेना वही मैं हूं. जब वह उनसे मिलने पहुंची, अपना परिचय दिया तो वे विश्वास ही नहीं कर सके. - अरे मुझे तो लगा था, तीस-चालीस साल की किसी परिपक्व सी दिखने वाली महिला की कलम से निकली होगी, वह कहानी. पर तुम तो छोटी सी गुड़िया-सी हो. तुम्हारे व्यक्तित्व से तुम्हारा लेखन

कहीं भी मेल नहीं खाता. वो सोचती है, ऐसा क्यों लगता है जैसे आज भी उसके अंदर एक बच्ची किलकारियां मार रही है, जो हमेश बचपन से जुड़ी रहना चाहती है. ताउम्र बचपन के साथ जुड़े रहना, जैसे प्रकृति से जुड़े रहना है. क्योंकि अगर जीवन का सबसे मासूम और सहज हिस्सा है तो वो बचपन ही है. और इसलिए व्यंग्यकार श्री सुबोध श्रीवास्तव ने उसे 'मासूम' का ख़िताब दिया हुआ था. हालांकि एक गोष्ठी में जब उसने अपनी एक कहानी पढ़ी थी तो उसे आज भी उनके कहे हुए वे शब्द याद हैं - 'सच अलका के पास जो शैली है, अगर मेरे पास होती तो मेरे कथ्य और उसकी शैली से मैं आज देश के सबसे बड़े साहित्यकारों में होता.' वह चकित हो गयी थी सुनकर कि उसकी जैसी नयी लेखिका के प्रति इतने बड़े रचनाकार के ये विचार हैं. उस दिन मन ही मन उन्हें प्रणाम करते हुए उसने सोचा था, आज से उसका लेखकीय दायित्व और बढ़ गया है.

यह दायित्व हर बार बढ़ता गया. जब जब किसी जाने माने साहित्यकार ने या किसी ने भी स्नेहिल ढंग से यह भरोसा जताया. उसकी कहानी 'अमसा' पढ़कर प्रोत्साहन देने वाली प्रतिक्रिया ज्ञानरंजन जी से मिली थी है. आज वह अपनी गैर जिम्मेदारानां जीवन शैली के लिए उनकी फटकार भी सुनती है. क्योंकि ज्ञान जी ही वे शख्स हैं, जिन्होंने उसे गाइड्स के नाम सुझाये थे उसके शोध के लिए और जबलपुर विश्वविद्यालय में स्वर्ण पदक की हकदार बनाने वाले भी वही थे. पहले रीवा के डॉ. कमला प्रसाद जी के मार्गदर्शन में वह शोध कर रही थी. पर उसी बीच बंबई में सगाई होने से एम. ए. में उसे हिंदी साहित्य का मर्म समझाने वाले अशोक श्रीवास्तव सर ने कहा था कि अब जब बंबई में ही रहना है तो बेहतर होगा मीडिया पर ही शोध करो. और १९९१ से दिल में यह सपना संजोये वह मुंबई आयी थी. ज्ञान जी ने विजय कुमार, धीरेंद्र अस्थाना और डॉ. दशरथ सिंह के फोन नंबर देते हुए कहा था, इनसे मिलना ये तुम्हें मार्गदर्शन देंगे. धीरेंद्र जी के कारण मुंबई में लेखन की पारी शुरू हुई - जनसत्ता और सबरंग से. अब उनके कहने से ही 'सहारा समय' के लिए लिख रही हूं. हां भटकते-भटकते अंत में अपने शोध के लिए डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी से मिली. विषय तय हुआ. असाइनमेंट्स लिखे, शोध आखिरकर शुरू हुआ, पर दो दिन चले अढ़ाई कोस की गति से. कारण शायद पूरा आसमां मुट्ठियों में कैद कर लेने की चाहत. इसलिए उसके एक परिचित ने उसे ऑक्टोपस की संज्ञा दी हुई है, जिसकी बाहें फैली रहती हैं, अनेक दिशाओं में.

कटनी, जबलपुर की साहित्यिक गतिविधियों की कमी पूरी हुई 'सार्थक संवाद' से. जब ऊषा भटनागर ने सूर्यबाला जी का फोन नं. दिया, उसने कहा, वह सार्थक से जुड़ना चाहती है. सूर्यबाला जी ने कहा था, मिलकर तय करेंगे. मिलने पर परीक्षा में खरी तो उतरी. सूर्यबाला जी, सुधा जी, कमलेश जी सबके स्नेह की फुहारें भी मिलीं. यहां भी उसकी सोच और उसकी शक्ल के विरोधाभास ने हमेशा उसे सार्थक की छोटी सदस्या बनाये रखा, जिसे शायद कोई जिम्मेदारी नहीं सौंपी जा सकती थी. पर जब 'परसाई मंच' बनाकर अच्छे सफल कार्यक्रम किये, तब सबको लगा - अरे छोटी सी ये लड़की घर-परिवार सम्हालते हुए और भी बहुत कुछ कर सकती है. सबरंग में 'टिकुली' कहानी पढ़कर ललिता अस्थाना ने फोन किया था - अलका विश्वास नहीं होता, वो कहानी तुमने लिखी है !

पर उसकी दिशा तय हो गयी थी, उस वक्त जब हिंदी में एम. ए. करते हुए वह परसाई जी से मिली थी. युवा क्रांति से संबंधित विषय पर अपने कॉलेज का प्रतिनिधित्व कर रही थी. तब तक उसने परसाई जी को बहुत पढ़ा नहीं था. किसी के कहने पर उनसे मिली थी, और विषय के हर पहलू को गहराई से उन्होंने समझाया था. उसने विषय को रखा भी बहुत गहराई से था. यह बात अलग है कि निर्णायक लीलाधर मंडलोई जी ने उसे विजेताओं में नहीं चुना था. वह निराश हुई थी. उसकी एक समस्या यह भी है, कि गर कभी दूसरे स्थान पर रही तो दिली खुशी महसूस नहीं कर पायी. क्योंकि अक्सर जीतती चली आयी है. पर हां घमंड से हमेशा दूर रही, क्योंकि मम्मी ने हमेशा यही सिखाया, कि घमंड तो राजा राणा का भी नहीं टिका.

उस दिन के बाद परसाई जी के घर से आत्मीय रिश्ता कायम हो गया. वह स्वीकारती है, कि साहित्य उसने बहुत पढ़ा नहीं था, पर जब भी उनसे मिलती बिना बनावट के, जो वो है, वैसे ही. जब भी वह जाती, परसाई जी अपनी बहन को आवाज देकर कहते सीता देखो कौन आया है, फिर वह सीता बुआ के साथ रसोई में ही बैठ जाती. एम. ए. में परसाई की रचनाओं में समवर्ती यथार्थ पर लघु शोध लिखा, जिसके लिए डॉ. मलय और विशेषकर डॉ. श्यामसुंदर मिश्र जी का खास सहयोग मिला. लेखन में भी परसाई जी ने एक दो सूत्र वाक्य बताये, जिसे फिर वह कभी नहीं भुला सकी.

हालांकि उनसे मिलने से पहले वह सारिका, व अन्य पत्र-पत्रिकाओं में छप चुकी थी. क्योंकि लिखना उसने बहुत छोटी उम्र में ही शुरू कर दिया था. हां, वह किसी को दिखाती नहीं थी कि क्या लिखा. पहली बार सारिका में छपी तब क्या हुआ, यह बताने से पहले वह खुद ये बताना चाहती है कि उसने लिखना कैसे और क्यों शुरू किया ?

उसका दर्द कागज पर अक्स लेने लगा था. यह दर्द था मां समान दीदी का हमेशा हमेशा के लिए दूर चले जाने का. वो दीदी जिसे जानने वाला हर शख्स आज सालों बाद भी यह कहता है 'शशी' तो लाखों में एक थी. जन्माष्टमी की रात को ठीक बारह बजे जन्मी, केसरिया रंग, बड़ी-बड़ी आंखों वाली लंबी छरहरी, दीदी सितार बहुत अच्छा बजाती थीं. अब भी उनका झाला जैसे

उसकी यादों में बजता रहता है और याद आती हैं, सितार पर फिसलती उनकी लंबी, चिकनी अंगुलियां. सब बहनों में सबसे अलग. संयुक्त परिवार में दो चाचियों का परिवार. दीदी और उसकी दो और बहनें और एक भाई कटनी में रहते थे, क्योंकि स्कूल था, पढ़ाई थी. मम्मी-पापा शहर से १५ कि.मी. दूर फॉर्म हाउस में रहते थे. छोटी बहन के साथ, क्योंकि पापा को खेती का जो शौक तब से था वो अब तक है. इसलिए कभी सोने, चांदी, पेट्रोल पंप, ऑइलमिल, टॉकीज, डेकोरेशन जैसे व्यवसाय उन्हें रास नहीं आये. शुरू कर करके हमेशा दूसरों को दे दिया. बड़ी चाची प्यार करती थीं, तो डांट फटकार में भी कोई कमी नहीं रखती थीं. बड़ी दीदियां जैसे ढाल बन जातीं, उसके लिए. बड़ी दीदी सारे दुःखों की आंच खुद झेलतीं. कॉलेज भी जातीं, घर भी सम्हालतीं, छोटे भाई-बहनों को भी. रात को उसके सिर पर पाउडर मलकर जब तक खुद से चिपकाकर नहीं सुलातीं, उसे गहरी नींद ही नहीं आती. उन्होंने ही उसका नाम स्कूल में सबसे छिपकर, उम्र बढ़ाकर डबल प्रमोशन के साथ लिखा दिया था, क्योंकि वह बाकी सबको स्कूल जाते देख रोती थी.

फिर उन्होंने ही उसके अंदर छिपी एक और प्रतिभा को पहचाना. उनका एक पिक्चर हॉल था 'सिल्वर टॉकीज' जो आज भी है, वहां कभी भी बच्चे फिल्में देखने चले जाते थे. वह जब फिल्म देखकर आती, कमरे की सिटकनी किसी तरह टेबल सरकाकार बंद करती और खुद गाकर नाचना शुरू कर देती. दीदी लोगों ने सोचा कमरा बंद करके आखिर क्या करती है यह. किसी तरह छेद से झांककर देखा गया तब उसकी यह कारस्तानी सामने आयी. और कह दिया गया, अब अलका को डांस भी सिखाया जायेगा.

उसके दादाजी प्यार तो उन्हें बहुत करते थे. पर एक तो बच्चों का उन्हें फिल्में देखना पसंद नहीं था, हां यह बात अलग है, कि खुद उन्हें 'सुरैया' बहुत पसंद थी. उसके गाने उनके पास थे. कोई फिल्म सुरैया की उन्होंने नहीं छोड़ी होगी. पर घर के बच्चों को कहते - तुम लोग मेवे, मिठाई खाओ, घूमो फिरो. पर फिल्में मत देखो. और ये नाचना गाना बड़े घर की लड़कियों का काम नहीं है क्योंकि 'नाचे रंडवा, गावे ठीठ.' पर उसके अंदर की प्रतिभा ने उन्हें राज़ी कर लिया. घर पर सांस्कृतिक माहौल था. पापा को खुद संगीत, फोटोग्राफी का शौक था. उसे याद है, वो चेंज़र और चेंज़र पर बजते रिकॉर्ड. बड़ी दीदी सितार बजाती थीं, तो तीसरे नंबर की दीदी ने वोकल म्यूजिक लिया था.

उसे पहले कत्थक के कुछ स्टेप्स सिखाये गये. प्राइमरी में स्कूल के सालाना जलसे में उसकी बहुत इच्छा थी कि उसे डांस में लिया जाये. बहनजी ने कहा कुछ करके दिखाओ, उसने दीदी लोगों से सीखे हुए कत्थक के स्टेप्स दिखाये. उसे नहीं लिया गया. फिर जब पैर पटक-पटककर लड़कियों ने "ले लो मटर की दो फलियां" डांस किया था, वह बहुत दुःखी हुई थी, क्योंकि वो वहां नहीं थी. पर बाद में मिडिल स्कूल में आने के बाद से हर क्षेत्र में आगे आने वाली छात्रा बन गयी थी. स्कूल के हर कार्यक्रम में - नृत्य, भाषण या वाद-विवाद हो, पढ़ाई हो या पेंटिंग हो. उसे याद है, कटनी में राष्ट्रीय स्तर पर होने वाली किरण प्रतियोगिता की नृत्य प्रतियोगिता में वह सर्वश्रेष्ठ बाल कलाकार चुनी गयी थी. जब जबलपुर एम. एच. कॉलेज हॉस्टल में ए.सी.सी. फैक्टरी कटनी की छात्राओं से परिचय में उसने अपना नाम बताया. तो उन्होंने कहा था - एक अलका अग्रवाल बहुत अच्छा डांस करती है. वे लोग विश्वास जल्दी नहीं कर पायी थीं कि सामने बैठी यह लड़की वही अलका है. फिर तो हॉस्टल में हर कार्यक्रम में उसका डांस. सीनियर्स ने रैगिंग में भी उसे खूब नचाया था. कॉलेज के चुनावों में भी वह हमेशा आगे रहती थी. एक बार विश्वविद्यालय प्रतिनिधि भी बनी थी. इस तरह दोस्तों और रिश्तेदारों का प्रोत्साहन, उनकी प्रशंसा उसे चार्ज करते रहे. पर हर क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाली दीदी अब नहीं थीं.

१८ साल की दीदी को एक राजकुमार देखने आ गया था. दीदी बहुत रोयी, सबने समझाया. ठीक है, एक बार मिल लो शादी नहीं होगी. पर परी सी दीदी को देखने के बाद राजकुमार न नहीं कह सका. नियति ने भी दीदी से हां कहला दिया. विदा पर वह रोती ही रही थी. दीदी वर्धा चली गयी थी. उनके हर ख़त में उसी की चिंता होती. लिखती रोया मत करो, खूब पढ़ो, खूब डांस करो. दीदी पहली बार आयी थी. याद है, उसे और भी सुंदर लग रही थी. शब्दों में ढालें तो - सुबह-सुबह की धूप सी निखरी. उनके आने के बाद फिर सब बहनें साथ बैठकर बिनाका गीत माला सुनने लगीं. दीदी लोग राजेश खन्ना की फैन थीं. खूब खूब बातें होतीं. उसे दीदी पर अपना पैर रखकर उनसे चिपककर सोने को मिला, तो फिर जैसे गहरी नींद आयी. दीदी जब भी ससुराल जाती, उसके आंसू थमने का नाम ही नहीं लेते. पर क्या पता था, यह जुदाई जीवन भर की हो जायेगी. बुधवार का दिन जब प्रभा और किरण दीदी बिनाका गीत माला सुन रही थीं, ऐसी ख़बर लाया था, जिसने सबको हिलाकर रख दिया. फॉर्म हाउस से पापा और मम्मी को चाचाजी लेकर आये, यह कहकर कि शशी का एक्सीडेंट हो गया है. पर जब घर पहुंचकर पूरा सराफ़ा बाज़ार आदमियों की भीड़ से भरा देखा, पापा बेहोश हो गये थे. १०-११ साल के भाई के सीने में अजीब सा दर्द उठा था. और वह बिल्कुल सूनी सी हो गयी थी. ऐसे कैसे हो सकता था ? उसकी हालत देखकर प्रभा दीदी आदि को लगा था, कि ऐसे तो यह भी नहीं बचेगी. न खाना न पीना, बस रोना. दीदी की कसम दी गयी थी, समझाया गया था, कि वो हमेशा चाहती थी, तू खूब आगे बढ़ो. उसने दीदी के ख़त छिपा रखे थे. अकेले में उन्हें निकालती, छिपकर पढ़ती. रोती, और यह दर्द फिर वर्कों में उतरने लगा था.

पता चलते ही उन पत्रों को उससे अलग कर दिया जाता, समझाया जाता - ऐसे तो वह नहीं जी सकती.

सच है, ज़िंदगी किसी के चले जाने से ख़त्म नहीं होती. उसकी रफ़्तार धीमी चाहे पड़ जाये राहें चाहे बदल जायें, पर वह थमती नहीं. आज वक़्त के फासले ने यादों को चाहे धुंधला दिया है, मिटा कभी नहीं सकेगा. पर अपना यह व्यक्तिगत दुःख कब दूसरों की कहानी बन गया, वह जान तक न पायी. डायरी लिखती, कविता, कहानी लिखती. कटनी के गीतकार अनिल खंपरिया ने कहा, कहानी सारिका में, धर्मयुग में, साप्ताहिक हिंदुस्तान में भेजो. उसने कहा - नहीं भेजनी.

दोनों दीदियों की शादी हो चुकी थी. जब भी वे आतीं, उसकी कहानियों को सुनतीं. ज़िद करके उन्होंने उसकी कहानी 'अनबूझ पहेली' सारिका में भेज दी थी. एक दिन दीदी रंगीन, पेपर में लिपटा हुआ कुछ लेकर घर में दाखिल हुई, और बोलीं बताओ तो क्या है ? - 'सारिका' ....अविश्वसनीय. इस एक कहानी ने उसके जीवन की दिशा मोड़ दी. बाबाजी ने हमेशा चाहा था, वह डॉक्टर बने. बी. एससी. के बाद एक बार डेंटल सर्जन बनने लायक अंक मिले भी पर फॉर्म नहीं भरा था, फिर तो वह कला की ओर मुड़ गयी.

उसे विश्वास नहीं होता था, जब एक-एक दिन में उसे ढेरों ख़त मिलने लगे थे. हर ख़त को पढ़ती. आनंद की जो अनुभूति होती, उससे नयी रचनाओं का आकाश खुलता जाता. एक कहानी के प्रकाशन से अंदर से आवाज उठी, अब सृजनमय हो जाना है. इस आवाज के प्रेरणा स्रोत थे, देश के कोने-कोने से आ रहे ख़त. सब जगहों से रचना मंगायी जा रही थी ...और तब यह सिलसिला चल पड़ा था. इसी बीच जबलपुर विश्वविद्यालय से एम. ए. हिंदी के लिए स्वर्ण-पदक मिला. जितना उसे हिंदी साहित्य ने प्रभावित किया उतना ही अंग्रेजी साहित्य ने. आज वह दुःखी है यह सोचकर कि कितना कुछ पढ़ती थी. पर अब नहीं हो पाता. उन दिनों सारिका में उसका छपना, विशेषकर दोनों दीदियों को विशेष खुशी दे गया था. फर्रुखाबाद में सारिका में कहानी देखकर दीदी के देवर ने दीदी का मज़ाक उड़ाया था - यह आपकी बहन अलका तो नहीं हो सकती. पर दीदी ने जब वह कहानी सुना दी, क्योंकि पढ़ी थी. तुरंत ख़त लिखा था, खुशी से भरा हुआ.

कायम रिश्तों में खुशी भरने के अलावा, आये हुए उन ख़तों ने नये रिश्ते भी कायम किये. वह कैसे भुला सकती है, पारिवारिक रिश्तों पर बुनी उसकी कहानी 'बिखरता हुआ सच' सारिका में पढ़कर भिलाई से सहदेव देशमुख का संवेदनाओं से भीगा ख़त जब उसने पढ़ा था. भीड़ से अलग उस ख़त में ऐसे भाई की व्यथा थी, जिसकी कोई बहन नहीं थी. ख़त ने उसे रुला दिया था, और तुरंत वह जवाब लिखने बैठी थी - 'देव भैया, आज से आपकी एक बहन है अलका.' और जब रक्षा-बंधन पर राखी भेजी थी, फिर भावनाओं से भीगा ख़त आया था. 'आज रक्षाबंधन पर पहली बार मेरी कलाई पर राखी बंधी. मैं एक गार्डन में जाकर बैठ गया, देखता रहा, कलाई पर बंधे उन रेशमी धागों को. और इस मधुर अहसास से आत्मा भीगती रही.'

सचमुच उसके लिए यह अनूठा अहसास था जब उसकी कहानी के अक्स असल ज़िंदगी में ढल गये थे. बहन-भाई के कागज़ी-रिश्ते ने भाई-बहन का ऐसा वास्तविक मानस रिश्ता कायम किया, जो आज तक कायम है. बहुत से पत्र-मित्र बने, जिनसे बहुत कुछ सीखने को मिला. उनके पत्र होते थे, उसकी ऊर्जा और देते थे दिशा उसके लेखन को. गिरीश भरदया, जिसकी कहानी उसकी कहानी के साथ सारिका में आयी थी - इंजीनियरिंग का छात्र साथ ही बहुत अच्छा चित्रकार, बहुत अच्छा लेखक. पत्र-लेखन भी जिससे सीखा जा सकता था, निर्मल वर्मा जैसे लेखक जिसके पत्रों से प्रभावित थे. उसने ही उसे उसकी कहानियों के 'अलकोया अंत' से परिचित कराया था. देशी व विदेशी साहित्य से भली-भांति परिचित गिरीश ने लिखा था... अक्सर तुम्हारी कहानी का अंत दुःखद होता है. अलका को रूसी में अलकोया कहेंगे, तो उसके अनुसार उसकी कहानियों का एक खास अंत होता था. उसे लगा, शायद भावुकता उस पर ज्यादा हावी है और फिर उसकी कहानियों के अंत अलग होने लगे थे.

ऐसा ही एक मित्र था दीपक अग्रवाल, जिसने जब-जब उसे बताया कि उसकी कौन सी कहानी या कौन सा लेख, कौन से पत्र या पत्रिका में किस तारीख़ को किस पृष्ठ पर आया है, वह अजीब से सात्विक आनंद से भीगती थी. क्योंकि बहुत बार उसे खुद उन पत्रों से सूचना मिलती थी, उसकी प्रकाशित रचना की. पर यदि कोई रचना दीपक को कमजोर लगती वह बाकायदा उस पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए साधिकर यह कहता था, यह तुम्हारी कलम से कहीं मेल नहीं खाती.

ऐसे और भी बहुत से मित्र थे, पर महिला मित्र बहुत कम थीं. एक जो बनीं, राजश्री रंजीता, जो 'स्पर्श' की संपादिका और 'दैनिक भास्कर' जबलपुर के महिला पृष्ठ की संपादिका थीं, उनसे आत्मीय रिश्ता बना, जो आज पारिवारिक मित्रता बन चुका है. कुछ, मजेदार वाकिये भी जुड़े हैं, ख़तों से. जैसे 'कहानियां मासिक चयन' में उसकी कहानी और फोटो देख एक महिला ने अपने एम. टेक. लड़के के लिए शादी का प्रस्ताव भेजा था. पर उस वक़्त उस पर जुनून सवार था, अपने लेखन का. अपने 'कचनार क्लब' का, अपनी पढ़ाई का. उसकी अपनी सहेलियों की एक दुनिया. दीदियां जब ससुराल से आतीं, उनके बच्चों की मासी कम, छोटी-सी मां ज्यादा बन जाती. उसे बड़ा मजा आता, उनकी मालिश करने में, उनके साथ, खेलने में. इसीलिए जब उसकी सगाई हुई तो दोनों दीदियों की एक ही प्रतिक्रिया थी, हम लोगों को अब यह बात अखरेगी की तुम कटनी में बहुत नहीं रहोगी. वैसे बाहर

वालों को घरवालों से ज्यादा, उसकी शादी की चिंता थी. उसने कह दिया था, जो दहेज मांगेंगे, वहां शादी नहीं करेगी. वह कॉलेज में एम. ए. में हिंदी पढ़ाती थी. कुछ लोगों को यह बात जंची नहीं. क्या ज़रूरत है, इसे नौकरी करने की. कहीं कुछ, कहीं कुछ. उसने ये ज़रूर सोचा था, कि वो सिर्फ एक गृहिणी की तरह नहीं रह सकती. उसकी अपनी इच्छाएं, महत्त्वाकांक्षाएं हैं. उधर छोटी बहन भी बराबर की. इसलिए शादी भी ज़रूरी क्योंकि मारवाड़ी समाज की अपनी मान्यताएं हैं. दिल में ऐसी कोई इच्छा नहीं थी, कि खूब पैसे वाले घर में शादी हो. बहुत खूबसूरत पति हो. चाहत थी, तो सिर्फ़ इतनी कि परिवार दकियानूसी न हो. उसकी अपनी ज़िंदगी भी हो, अपनी इच्छाओं की भी कद्र हो.

वह वहा शादी करेगी, जहां यह छिपाना न पड़े कि वह कॉलेज में पढ़ाती है. ऐसे लड़के से शादी करेगी जो उसके अस्तित्व को भी महत्व दे. हां, डॉक्टर, इंजीनियर पसंद नहीं थे. सी. ए. के लिए सॉफ्ट कॉर्नर था. पक्का व्यापारी तो हरगिज़ नहीं. और फिर १९९१ जनवरी में मुंबई आना, ऐसा लगना कि शायद यह लड़का अलग है. महत्व देगा, उसकी प्रतिभा को. आख़िर शादी होकर मुकुल के साथ वह कोटा से मुंबई आ गयी. आने वाले दिन ट्रांसपोर्ट की हड़ताल. किसी तरह टैंपो पर सामान लादकर, और खुद भी लदकर अंधेरी पहुंचे. थोड़ा बहुत नाश्ता साथ था. सुबह, शाम रेस्टॉरेंट में जाकर खाते. एक दिन ऐसा आया कि सारा नाश्ता ख़त्म, बारिश मूसलाधार. भूखे घर में बैठे रहे. बारिश रुकी तब खाना खाने गये. उस दिन सोचा, कब तक ऐसे चलेगा, घर पर खाना तो बनाना पड़ेगा, सुपर मार्केट पहुंचे. उसने केक, पुडिंग तो सब बनाई हुई थी, पर चने की दाल और अरहर की दाल के अंतर को नहीं जानती थी. मुकुल तूहर (अरहर) को ही तूहर कह रहे थे, पर वह चने की दाल को. आख़िर एक बुजुर्ग से पूछकर तय हुआ. चावल, दाल, आलू, शक्कर आदि लिया. गैस थी नहीं, हीटर था. इसलिए चावल दाल चढ़ाये गये. सोचा पहले दिन खाना बन रहा है, कुछ मीठा बनाया जाये. जो सामान था, उसमें सिर्फ़ खीर बन सकती थी. उसे इतना पता था, खीर में दूध, चावल और शक्कर डालते हैं. उसने सब कुछ एक साथ मिलाया, चढ़ा दिया. जब खीर बनी, तो उसमें दूध ढूंढ़ना मुश्किल था. पर आज भी याद है, जब मुकुल ने कहा था, खीर बहुत अच्छी बनी है. उस समय की यादों की पोटली में इतना कुछ है कि खोले तो न जाने कितने पन्ने भर जायें. मुंबई में ननिहाल है, फिर तो मामा-मामी सबने उसकी गृहस्थी को सजाने में मदद की. कुछ महीनों में अंधेरी से मलाड आ गये. सृजन से दूर ज्यादा रहा नहीं जा सकता था. पर पहले डालमियां कॉलेज में प्राध्यापिका बनी. उस एक साल में छात्र-छात्राओं के साथ जो रिश्ते कायम हुए, उनमें आज भी बहुत से छात्र अब भी उसे वहीं मान-सम्मान देते हैं. अगले साल कॉलेज में राजनीति हुई, एक ट्रस्टी की परिचिता आयी. वैसे

लघुकथा

अस्तित्व की तलाश

✍ मुकेश शर्मा

सफलता के नशे में चूर था. प्रमोशन मिलने के साथ ही पूरे इलाके पर मेरी कुर्सी की अधिकारिता लागू हो गयी थी. मेरे बोलने का अर्थ है 'साहब का आदेश'. किसी पर मेहरबान हो गया तो समझो कि उसकी तूती बोलने लगेगी और किसी के खिलाफ दो लाइनें भी लिख दीं तो समझो कि उसकी भैंस तो गयी पानी में. वाह भगवान, छोटा, मोटा भगवान तो अब मैं भी बन गया हूं.

बचपन के मित्र राजेश ने पेग तैयार कर लिये थे.

"लीजिए साहब बहादुर...." राजेश ने मुस्कराते हुए दंभ को और हवा दी.

"राजेश,..." मैंने सामने रखी मेज पर पांव पसारते हुए कहा - "क्या ऐसा नहीं लगता कि ये दुनिया तेरे दोस्त की मुट्ठी में ही आ गयी है ? अब हमारे हर आदेश का अर्थ होगा - खलबली."

"बिल्कुल साहब जी, बिल्कुल ! शुरुकीजिए, चीयर्स !"

"चीयर्स !"

थोड़ी देर बाद हल्का-हल्का नशा होना शुरू हो गया. राजेश मेरे चरणों के पास रखे पृथ्वी का नक्शा छपे ग्लोब को मेरी आंखों के पास ले आया - "साहब जी, बताओ ये क्या है ?"

"हा हा हा... मसखरी करता है. अभी मुझे ऐसा नशा नहीं हुआ है. ये है ग्लोब, पृथ्वी का नक्शा यानी छोटी मोटी पृथ्वी ही समझ !"

"साहब जी, आप एशिया में रहते हैं या यूरोप में ? इस ग्लोब में बताओ तो सही."

"अरे मेरी जान, यूरोप हमारी किस्मत में कहां? ये रहा एशिया...." नक्शे पर पेन से घेरा बनाते हुए मैं मुस्कराया.

"अब जरा भारत की सैर करा दो."

"हूं...चल, लिये चलते हैं तुझे, ये ले." ग्लोब में छपे भारत के नक्शे पर भी पेन से घेरा बना दिया.

"साहब जी, अब जरा अपने स्टेट तक ले कर चलें तो जानें."

"हूं...यार, ये तो मुश्किल है. चल कोशिश करते हैं. देख सभी राज्यों की रेखाएं तो इसमें हैं नहीं, लेकिन मेरे ख्याल से इसमें ये होना चाहिए अपना राज्य..." एक छोटा सा घेरा मैंने भारत में नक्शे के भीतर बना दिया.

"लो साहब जी, आपका पेग, आपकी सरकारी ताकत के नाम !"

"चीयर्स !"

"अब जरा अपने जिले में और ले चलो, जहां के आप सर्वेसर्वा हैं...."

"क्या...?" आंखों पर चश्मा लगाना पड़ा. ग्लोब पर एक पेन का प्वायंट टेकने से ज्यादा गुंजाइश दिखाई नहीं दे रही थी - "बस इतना सा ? इससे बाहर हमारी कोई 'पॉवर' नहीं ?" नशा उतरना शुरू हो चुका था.

१२३२, लक्ष्मण विहार, फेज दो, धनवापुर रोड, गुड़गांव-१२२००१ (हरि.)

उसके मामा भी ट्रस्टी थे, पर उसने कहा नहीं. छात्र आये, कहा हम स्ट्राइक करेंगे आप ही वापस आइए. उसने उन्हें समझाया क्योंकि उसके लिए रास्ता तय था, सृजन का. हां, यह एक दुःखद स्थिति है कि शादी के बाद ज्यादा परिवर्तन लड़की की ज़िंदगी में ही आता है. पर फिर भी लेखन में पति का सहयोग मिला. आज भी जब कोई कहानी लिखती है, वह पहले मुकुल को सुनाना चाहती है. क्योंकि साहित्यिक न होते हुए भी उनकी प्रतिक्रिया बहुत सटीक होती है. हमेशा वो कहते हैं, उसे "क्रिएटिव राइटिंग" की तरफ़ ही ध्यान देना चाहिए. क्योंकि कहानियां ही उसे अच्छी पहचान देंगी. पत्रकारिता की ज़िंदगी छोटी होती है. लेख तो लोग पढ़ते हैं, भूल जाते हैं. हालांकि उनकी हर बात से वह सहमत नहीं होती, पर फिर भी बहुत बार कायल होती है, उनकी सोच की. एक दूसरे से शिकायतें भी हैं. बुनियादी अंतर भी हैं. वह जितनी अस्त-व्यस्त और चंचल है, पति उतने ही व्यवस्थित और गंभीर. कई बार वह आदर्श पत्नी के मापदंडों पर खरी नहीं उतरती. तो भी परसाई मंच के जो भी कार्यक्रम हुए उसमें मुकुल के सहयोग को नकार नहीं सकती. क्योंकि आज भी भारतीय समाज में पति की सहमति और सहयोग ही पत्नी का संबल होता है.

१९९४ में लेखकीय सृजन के साथ ही उसने सृजन किया, सृष्टि की एक रचना का. उनका बेटा 'पर्व' दीप-पर्व पर जीवन में आया. मातृत्व का अहसास भी कितना सुखद है, यह पर्व आने के बाद महसूस हुआ. मन में अनुभूतियां बहुत थीं, इस अहसास की पर अभिव्यक्ति में नहीं ढल पायीं. पर उसने रिकॉर्ड कीं उसकी आवाजें. लिखा, उसका पहला दांत कब आया, पहला दूध का दांत कब टूटा ? एक अंकल ने पूछा तुम अपने बच्चे को पाल तो बहुत अच्छे से रही हो, यह बताओ उसे लोरियां कौन-सी सुनाती हो ? उसने कहा - फिल्मी. उन्होंने कहा, 'अरे अच्छा नहीं लगा सुनकर.' फिर वह खुद बनाकर, गाकर सुनाने लगी. तभी हंसा 'प्रदीप' से बात हुई, उन्होंने कहा, जब उनके बच्चे छोटे थे यही महसूस हुआ था, इसलिए उन्होंने लोरियों पर शोध किया. सार्थक की कमलेश जी और सूर्यबाला जी ने इस अहसास को यह कहकर मधुर बनाया कि यही वह समय है, जब तुम्हारे बेटे को सबसे ज्यादा तुम्हारी ज़रूरत है. यही बच्चे को संस्कार देने का समय है. वह क्या संस्कार दे सकी, वह तो भविष्य की गर्त में है, पर यह बात ज़रूर है, कि सबसे ज्यादा सुकून उसे पर्व को प्यार करने में मिलता है. उसकी हंसी उसे अंदर तक खुश कर देती है. मातृत्व के इसी अहसास को जीने के लिए उसने फिर एक ऐसा निर्णय लिया है. जिससे शायद उसके लेखकीय सृजन की गति फिलहाल धीमी हुई है, पर वह थमने नहीं देगी, ज़िंदगी की रफ़्तार को. कुछ लोगों का मत है कि शादी हो गयी अब क्या पढ़ना-लिखना. घर देखो, बच्चे देखो. पर वह नहीं सिमट सकती, इन दायरों में, हां घर-परिवार प्राथमिक हैं, पर उसकी संपूर्णता नहीं हैं. शायद इसलिए अब भी मम्मी, भैया, भाभी - सबकी नसीहतें उसे मिलती रहती हैं. पर वह नहीं हो पाती, उन लड़कियों की तरह जिनके लिए घर-परिवार के अलावा कोई दुनिया है ही नहीं.

ऐसा नहीं है कि बाहर की यह दुनिया बहुत सुंदर है. तथाकथित साहित्यिक, प्रगतिशील और आदर्शवादी बातें करने वाले लोग कितने आवरण पहने रहते हैं, यह सब जानकर क्षोभ होता है. सोचा था, नकारात्मक बातों का ज़िक्र नहीं करेगी. पर क्या करे कुछ व्यक्ति और घटनाएं सालते हैं दिल को. नाम न लेते हुए ज़िक्र करेगी, क्योंकि भावनाओं का विरेचन भी ज़रूरी है.

कुछ पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजने पर यह भी हुआ, थोड़े बहुत रद्दोबदल के साथ वहां जमे लोगों ने अपने नाम से छाप दिया. एक महिला पत्रिका में उपसंपादिका रही महिला ने, जो उसकी इस सूची में शामिल है और आज एक धारावाहिक के संवाद लिख रही है. यहां लोग ऊपर चढ़ने के लिए कोई भी रास्ते इस्तेमाल करते हैं. एक जनाब जो कि भाई बनकर घर आते रहे - नया क्या लिखा, दिखाओ, सुनाओ. फिर पता चलता है, वह चोरी हो गया. उसका एक लेख तो उस भाई ने वैसा का वैसा अपना नाम बदलकर नवभारत टाइम्स में छपवा दिया. उसने विश्वनाथ जी से भी कहा था, उनका जवाब था - उससे कहिए लिख कर दे. जवाब मिला हां, तुम्हारा लेख है, पर मैं लिखकर नहीं दूंगा. 'स्ट्रगलर्स' पर एक कहानी सूरज प्रकाश जी के 'बंबई-१' संग्रह के लिए लिख रही थी. उसी शख़्स ने उस कहानी को सुनकर सबरंग की आवरण कथा बना दी. लगातार उसके परिचयों का इस्तेमाल कर वह लोगों के पास पहुंचने लगा, उसके रिश्ते ख़राब करने लगा.

पहले 'दोपहर' में महिला पन्ना पूरा संभाला, तकरीबन दो साल, सरल जी के कहने पर. पास से खर्च कर फैक्स किये, कूरियर किये, दिल से उस काम को किया. पर अनुज जोशी ने अपनी मजबूरियां ज़ाहिर कर दीं. यह आर्थिक से ज्यादा मानसिक दिवालियापन है. तब से सोच लिया, अब जब भी कोई स्तंभ लिखेगी, तो पहले बातें तय करके. पिछले महीनों एक समाचार-पत्र में मीडिया पर स्तंभ तयशुदा बातों पर ही आरंभ किया. उसे भी लिखकर संतुष्टि मिल रही थी, पर जब पता चला कि बाकी लेखकों को बाकायदा चैक मिल रहे हैं, उसका एक भी चैक नहीं आया. पूछने पर जवाब मिलता कि सिर्फ वही चैक की बात कर रही है. उसे लगा, शायद उसे कम आंका जा रहा है. उसने आत्म सम्मान की खातिर स्तंभ लिखना बंद कर दिया.

इसी तरह की एक दो छोटी-छोटी बातें इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में भी उसके साथ हुईं. पर फिर दूसरे पक्ष ने महसूस किया कि गलती उनसे हुई, क्योंकि उसने हमेशा लगन और निष्ठा के साथ लेखन किया है. इससे अलहदा साहित्यिक समाज की एक विडंबना ने उसे अक्सर परेशान किया. विशेषकर 'पुरुष लेखक' की विकृत

मानसिकता ने अजीब सी सड़ांध फैला, रखी है. पुरुष महिला लेखक को खानों में उन्होंने ही बांटा है. ये तथाकथित प्रगतिशील लेखक, पत्रकार, कवि सोचते हैं कि हर लड़की या महिला उनके इशारे पर चलेगी, अगर ऐसा नहीं होता तो ये भन्ना जाते हैं. और जो मान ले उसके लिए वे सीढ़ियां बना देते हैं. इसका फायदा महिलाएं भी उठाती हैं. पर कुछ तो अपने झूठे-सच्चे रिश्तों के किस्से बनाते हैं, छपवाते हैं. नाम सभी बुद्धिजीवी जानते हैं. एक शख़्स जो कि एक पत्रिका के स्तंभकार हैं. अपने को भारतीय कहते हैं, पूरे देश की साहित्यिक राजनीति के अगुआ भी लगते हैं. एक बार एक विवादास्पद कार्यक्रम का संचालन करने के लिए उसकी प्रशंसा के पुल बांध दिये थे. उस कार्यक्रम का पूरे मुंबईकर साहित्यिकारों ने बहिष्कार किया था. वे एक साल बाद, जब मिले. वह उसकी पूर्व निर्धारित 'स्त्रियों के प्रति' सोच पर खरी नहीं उतरी, तो बुरी बन गयी. पहले साल इसी शख़्स ने परसाई मंच के कार्यक्रम हेतु बधाई भेजी थी, तो अब तमाम गालियां दे डालीं. अजीब त्रासदी है, मंचों से और लेखों में नारी अधिकार की बात करते हैं, असल ज़िंदगी में नारी के प्रति इनका जो नज़रिया है, तौबा-तौबा ...

बहुत कुछ है जो अब तक देखा, जाना, समझा. पीर पर्वत सी बन चुकी थी, उसे पिघलना था, सो कलम चल पड़ी. हां नाम उसने जान बूझकर नहीं दिये, वर्ना तसलीमा नसरीन की तरह निष्कासित कर दी जाती. खैर उससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि उसे नाम लेने की इच्छा कतई नहीं.

ज़िंदगी में सिर्फ़ पीर ही मिली ऐसा नहीं. इस महानगर में भी कुछ बहुत अच्छे लोग मिले. सबके नाम तो संभव नहीं, पर कुछ नाम ज़रूर लेगी, जो सहायक बने उसकी रचनात्मकता के, सहयोगी बने, उसके सृजन के.

परसाई मंच की सफलता का श्रेय जिन्हें खास तौर पर देना चाहती है - उनमें राजेंद्र गुप्ता जी, दिनेश शाकुल और विवेक अग्रवाल, शोभा घोष का नाम ज़रूरी है. शुभंकर घोष ने उसका परिचय कराया टेलीविजन की दुनिया से, उसकी कहानी पर 'रिश्ते' बनाकर. तो रेडियो से वापस जोड़ा आनंद सिंह और चारू जी ने. उसे विश्वास है, कि अगर लिखना है, तो ज्यादा से ज्यादा जानना भी चाहिए. जैसा कि पहले उसने स्वीकार किया है. शादी के बाद उसका पढ़ना पहले जैसा रह नहीं पाया. उपनगरों की तरफ़ पुस्तकालय हैं नहीं. सब किताबें खरीदना मुमकिन भी नहीं, और फिर रखने की भी समस्या है. हूबनाथ पांडे, आलोक चौबे, दिनेश शाकुल ये कुछ नाम हैं जिन्होंने बहुत पढ़ा है और इनसे बातों का लंबा सिलसिला चल सकता है. पढ़ने-जानने की यह इच्छा भी कई बार कुछ लोगों को खटकती है. और वे हर कहीं दाल में कुछ काला भी देख लेते हैं, दयनीय है उनकी यह सोच. एक महत्वाकांक्षा मीडिया पर शोध करने की है जो इलास्टिक की तरह खिंचती जा रही है. पर ख़त्म नहीं होगी. कुछ बातें जो पूरी नहीं कर पायी. डॉक्टर न बनकर दादाजी का सपना तोड़ा, आई. ए. एस. न बनकर खुद और बहुतों का. उसकी कमजोरियां, उसका 'फ्लिकरिंग माइन्ड,' बहुद जल्दी दोस्ती बनाना. अपना नुकसान कर, अपना काम छोड़ दूसरे का काम पहले करना.

इस प्रकार अपने शहर से, जहां जन्मी, जबलपुर में कॉलेज और शादी के बाद महानगर पहुंची अलका जब आज पीछे मुड़कर देखती है, तो महसूसती है कि 'एक्टर्स बैंक' की तरह उसका अपना एक 'राइटर्स बैंक' है. जहां जमा हैं ढेरों अनुभूतियां, बहुत सा कच्चा माल स्मृतियों का. अतीत की कुछ अनुभूतियां जब सुंदर अभिव्यक्ति में ढलीं, उनमें से एक जो उसे बहुत खूबसूरत लगती है, वह है जबलपुर में गुज़ारी होस्टल की ज़िंदगी पर आधारित ...पर जिसकी यात्रा जो पहुंची होस्टल की एक सीनियर के साथ भोपाल गैस त्रासदी तक... वह कहानी है, 'बुल दी'. उसकी एक कविता "मौत" जिसमें आज से सालों पहले उसने श्मशान में लकड़ियां देने वाले मांगू कि ज़िंदगी पर लिखा था -

कौन कहता है कि मौत तू रुलाती है,
यहां तो तू मांगू के परिवार को ज़िंदगी दे जाती है.

कुछ कहानियां घटनाओं से उपजीं, कुछ स्थितियों वश बने हुए मार्गों और मोड़ों के कारण. उसे लगता है, बहुत कम समय में उसने हर रस की अनुभूतियां अर्जित की हैं. उसके पास है रस और विचार की उर्वर भूमि. रचनात्मकता का विराट आकाश. एक प्यारा-सा 'पर्व' और दूसरी संतान 'परी' का इंतज़ार. उसके इस निर्णय पर भी उसे बहुत नकारात्मक सुनना पड़ा. आज जब तुम इतना लिख पढ़ रही थीं, तब यह निर्णय ! तुम हो जाओगी 'आउट ऑफ साइट' याने 'आउट ऑफ माइंड.' एक बार कुछ विचलित हुई पर फिर अंदर से आवाज आयी जिसने कहा, निराश मत हो मैं हूं तेरा अस्तित्व. तू आज की तारीख़ में एक बार शायद पीछे छूट जाये, पर भविष्य में अपनी गति को पुनः पकड़ लेगी. क्योंकि तेरे पास है एक दिशा, एक दृष्टि. तू है लेखिका, जिसकी परिवार के अलावा एक सामाजिक प्रतिबद्धता है. और सबसे बड़ी बात यह कि खुद के अंतस से कटकर तू जी ही नहीं सकती. तू सृजन से कट ही नहीं सकती. यह मत सोच कि यात्रा ख़त्म, सोच यह कि यात्रा अभी शुरू हुई है. और वह आशान्वित होकर नयी कविता लिखनी शुरू करती है, जो उसके अंतर पल रही 'परी' की आवाज है - "मैं हूं"

कविता की शुरुआती पंक्ति है -

"एक आवाज गूंजी, कहा जिसने मैं हूं."

इस आवाज ने इसे दिया है आत्मविश्वास, आनंद की अनुभूति, प्रतिबद्धता और यह कहने की ताकत कि वह ईमानदार, कोशिश हमेशा करेगी, खुद को तारीख़ों में छोड़ जाने की...

☏ *सी/१५ मोहम्मदी अपार्टमेंट,*
राणी सती मार्ग, मलाड (पू.), मुंबई ४०० ०९७

दरअसल मुझे कोई जल्दी नहीं है कहीं पहुंचने की !

- सुरेश सलिल

एक साधक की भांति साहित्य-कर्म ही जिनका ध्येय-प्रेम हो, ऐसे रचनाकारों में जिन्हें गंभीरता से याद किया जाता है उनमें एक नाम है कवि-समीक्षक-संचयक-आलोचक-अनुवादक सुरेश सलिल का. सलिल जी के पास जीवन-जगत का गहन अनुभव है. प्रस्तुत है कथाकार डॉ. रूपसिंह चंदेल से विभिन्न पहलुओं पर उनकी बातचीत.

● ***सलिल जी, सृजनात्मक कर्म में लगे किसी व्यक्ति को जानने के क्रम में सबसे पहली जिज्ञासा यही होती है कि उसकी इस संलिप्ति के उपादान या उत्प्रेरक कहां से, कैसे और कब जुटे ? अपने को केंद्र में रखकर इस बारे में कुछ बताइए !***

चंदेल जी, मैं जानता था कि सबसे पहले मुझे इसी प्रश्न का सामना करना पड़ेगा ! वैसे, इस संबंध में मैं पहले काफी-कुछ कह चुका हूं. उन्हीं-उन्हीं बातों को फिर दुहराने का उत्साह तो नहीं रहा, फिर भी, संक्षेप में कुछ कहने की कोशिश कर रहा हूं. ....शैशवकाल में होश संभालते ही मुझे अपने पारिवारिक परिवेश और आस-पास के ग्राम-समाज में जो वातावरण मिला, वह आपादमस्तक कवितामय था. पिता, स्वांतः सुखाय कविता करते थे. यदा-कदा, दादी अपने फुर्सत के क्षणों में, अपने बड़े भाई और १९२०-३० के दशकों के मध्य-भारत के महत्वपूर्ण कवि 'द्विजलाल' की कविताएं सस्वर गाया करती थीं. गांव-जवार के, पिताजी के मित्रों में कई ऐसे लोग थे, जो या तो स्वयं कविता करते थे, या दूसरे कवियों की सैकड़ों कविताएं उन्हें कंठस्थ थीं. जब भी वे सब जुटते तो कविता का वातावरण सजीव हो उठता. दूर के पारिवारिक रिश्ते के मेरे एक चाचा आशुकवि थे, यद्यपि उन्हें मैंने कभी नहीं देखा. अपनी जवानी के दौरान ही, कविता की दीवानगी में वे कहीं गये और फिर कभी लौटकर नहीं आये. संस्कारों के विकास में उसका भी शायद कुछ असर रहा हो. गांवों में उस दौरान ब्याह-शादी के जितने भी समारोह होते, तिथि-पर्व पड़ते, उनमें भी कविता के लिए एक निश्चित ज़गह थी... आज के मुहावरे में कहें, तो लगभग रूढ़ि जैसी. उस सबमें हिस्सेदारी के लिए - पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर - हम बच्चों को उकसाया जाता. मैं चूंकि इस मामले में आगे बढ़-चढ़कर हिस्सा लेता था, इसलिए अपने अन्य हम-उम्र साथियों में सबसे 'योग्य' समझा जाता. हर ज़गह मेरा बुलावा होता. स्कूली पढ़ाई के दौरान भी ऐसा प्रतीत होता, जैसे कविता भी पाठ्यक्रम का एक हिस्सा हो. शनिवार को होनेवाली साप्ताहिक गोष्ठियों के लिए हमें अलग से तैयारी करने के लिए अध्यापक-गण प्रेरित करते. जो विद्यार्थी हर बार नयी कविता सुनाता, उसे प्रशंसा के भाव से देखा जाता, कभी-कभी इनाम भी दिये जाते. उन गोष्ठियों को सुनने के लिए गांव के अलावा आस-पास के दूसरे गांवों के लोग भी आ जुटते. 'सनेही' जी की 'सुकवि' पत्रिका मेरे यहां आती थी. कभी-कभार पिताजी शहर जाते तो, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान जैसी पत्रिकाएं भी खरीद लाते. मैथिली शरण गुप्त की 'भारत भारती', 'जयद्रथ वध', 'यशोधरा', बच्चन जी की 'मधुशाला', अवधेश मालवीय की 'अवधेश कुसुमांजलि', 'वीरोक्ति' आदि कविता पुस्तकें मैंने उसी उम्र में पढ़-रट डाली थीं. गणेश शंकर विद्यार्थी का 'प्रताप' अखबार भी मेरे यहां आता था. उसमें हर हफ्ते कविताएं-कहानियां आतीं. एक स्तंभ 'प्रताप बाल-गोष्ठी' का भी उसमें होता, जिसमें बच्चों की चीज़ें ही छपतीं. इस सबको पढ़ते-देखते कहीं वह अंकुर भी मन में फूटा होगा, कि मैं खुद भी ऐसा कुछ लिखूं, जो इन पृष्ठों पर छपे. होते-करते यह मौका भी आया. सन् १९५३ में, जब मैं ११ साल का था, मेरी पहली कविता लिखी गयी. छपी तो वह कहीं नहीं; लेकिन प्रशंसा बहुत मिली. उसी उत्साह में मैंने कोई १४-१५ कविताएं लिख डालीं, साल-भर के भीतर. बाकायदा पांडुलिपि भी बनायी, कि इनकी किताब छपवाऊंगा. शेख चिल्लियाना खुशफ़हमी ही थी, क्योंकि मेरे कविता संग्रह के छपने का वक़्त कोई ४०-५० साल बाद आया १९९० में. हां, लेकिन मेरी पहली कविता १९५६ में ही प्रकाशित हो गयी थी - उन्नाव के 'साप्ताहिक जाग्रति' में. इसी तरह चीज़ें बढ़ती रहीं....

● ***अच्छा, इस तरह कविता की ओर आपका रुझान तो हुआ, लेकिन पत्रकारिता !.... फिर, क्या कथा-साहित्य की ओर आपका झुकाव कभी नहीं हुआ ?***

मेरी सबसे छोटी बुआ का विवाह १९४९ में हुआ. उनके पतिदेव, यानी मेर फूफाजी, 'प्रताप' के संपादकीय विभाग में काम करते थे. इस रिश्ते से मेरे प्रारंभिक परिवेश में पत्रकारिता आ जुड़ी. मेरा अपना पारिवारिक परिवेश तो चिकित्सा और सामाजिक कार्यों का था. पिता जी चिकित्सक थे और गांव-जवार के सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में उनका नाम अग्रणी रहता था. उनके वे संस्कार भी कमोबेश मेरे व्यक्तित्व में रहे-मिले, लेकिन 'फैसिनेशन' पत्रकारिता और प्रकाशन की दिशा में हुआ. गांव से आठवीं पास कर उन्नाव पढ़ने आया, तो मेरे संरक्षक बने जिले के कांग्रेस के स्तंभ विश्वंभर दयाल त्रिपाठी और उनके अनुज बाल गंगाधर त्रिपाठी. वे बांये-बाजू के लड़ने-भिड़ने वाले निस्पृह राजनेता थे. वहीं कांग्रेस आश्रम में मेरे रहने की व्यवस्था हुई ! वहां से साप्ताहिक 'जाग्रति' अख़बार निकलता था - हाथवाली ट्रेडिल मशीन पर. जिला कांग्रेस का कार्यालय भी था. तो पढ़ाई तो जैसी-तैसी ही हुई उन तीन-चार सालों के दौरान, बेशक ग़ैर समझौतेवादी राजनीति और पत्रकारिता व प्रेस-कार्य की बुनयादी ट्रेनिंग हो गयी.

उन्हीं संस्कारों के चलते, आगे चलकर जब मेरे सामने बैंक नौकरी का प्रस्ताव आया, तो उसकी बजाय मैंने अख़बारी दफ्तरों, प्रकाशन संस्थाओं में छोटे-मोटे काम करने को ज्यादा तरजीह दी. रही बात, 'कथा साहित्य' की. शुरू में रुझान तो कथा-साहित्य की ओर भी रहा - प्रेमचंद की 'निर्मला', निराला की 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'अप्सरा', भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष', 'चित्रलेखा' आदि उपन्यास तथा प्रेमचंद-विश्वंभर नाथ कौशिक आदि की कहानियां तो दसवीं से पहले ही पढ़ चुका था. उनके प्रभाव में कुछ बचकाने प्रयास भी किये थे. बाद में, एकाध कहानियां कानपुर के पत्रों में भी छपीं, लेकिन कानपुर में कहानी का वातावरण मेरे आस-पास नहीं रहा. उत्प्रेरक नहीं जुटे. दिल्ली आने के बाद ज़रूर एक कहानी लिखी, कहीं रफ़ में पड़ी भी होगी. लेकिन न उसे छपाया, न यह बात ही दिमाग में आयी कि आगे कहानी लिखता रहूं. कहानियां पढ़ता हूं बेशक. सत्तर तक तो हिंदी कहानी का व्यवस्थित पाठक था, मेरे प्रिय कथाकार हैं अनेक, लेकिन इधर ज्यादातर हिंदीतर देशी-विदेशी कथाकारों को पढ़ना ही हो पाता है. यदा-कदा कुछेक कहानियों के अनुवाद भी करता रहा हूं, जो पत्रों में छपे. उनका एक संग्रह भी, 'अपनी जुबान में' शीर्षक से आ चुका है. बच्चों के लिए समय-समय पर कविताएं-कहानियां लिखता रहा हूं. दिल्ली आने पर पहली नौकरी बच्चों की पत्रिका 'चंपक' में ही की थी. कुछेक विश्व क्लासिक्स के संक्षिप्त रूपांतर भी किशोरों के लिए किये. लेकिन लगता है, एक कथाकार का टेम्परामेंट जो होता है, वह मुझमें नहीं है. कहानी लिखना शुरू करूंगा, या उपन्यास, तो वह संस्मरण या इतिहास बन जायेगा. वैसे, एक आत्मकथात्मक उपन्यास लिखने की इच्छा तो मन में अब भी है. देखिए...

● *ऐसी दीर्घकालिक सक्रियता के बावजूद आपका कविता संग्रह बहुत देर में आया ?*

हां, यह तो है. दरअसल, अभी बहुत साल तक मैं एक आत्मघाती किस्म के आदर्शवाद का शिकार रहा हूं, कि एक कवि या कथाकार को स्वयं प्रार्थी बन कर संपादक या प्रकाशक के पास नहीं जाना चाहिए. अगर आप में दम-खम है, तो लोग खुद आपके पास आयेंगे. इस मामले में मेरे आदर्श बर्टोल्ट ब्रेस्ट और एमिलि डिकिंसन रहे हैं. ब्रेस्ट की उनके जीवनकाल में सौ से भी कम कविताएं छपी थीं; जबकि उनकी कविताओं की संख्या कोई एक हजार होगी. एमिलि की तो कुल छह-सात कविताएं ही उनके जीवन में छपी थीं; जबकि उनकी कविताओं की संख्या हजारों में है. मेरा अब तक का जो एक मात्र प्रकाशित संग्रह है, उसकी भी अपनी कहानी है. सन् १९८९-९० के आस-पास हम लोगों ने सादतपुर में जनकवि शील जी पर दो-दिवसीय आयोजन किया था. बाबा नागार्जुन उसके इंजन थे और मैं व डॉ. माहेश्वर गार्ड. तो उसकी स्मारिका के लिए 'हिंदी अकादमी' का विज्ञापन लेने मैं गया. उन दिनों उसके सचिव डॉ. नारायण दत्त पालीवाल हुआ करते थे. उनसे व्यक्तिगत मेरा कोई पूर्व परिचय नहीं था. उन्होंने छूटते ही कहा, विज्ञापन तो मैं दूंगा ही, लेकिन एक शर्त के साथ, कि पहले आप अपना कविता संग्रह मुझे पढ़ने को दीजिए. मैं चुप. माहेश्वर जी साथ में थे. उन्होंने कहा, इन्होंने अब तक अपना कोई संग्रह छपवाया ही नहीं है. अजीब आदमी हैं !... पालीवाल जी बोले, तो फिर, आपको विज्ञापन का मसौदा तब मैं दूंगा, जब आप अपनी कविताओं की पांडुलिपि मेरे हवाले कर देंगे. इस तरह, हड़बड़ी में, कुछ चीज़ें इकट्ठी कीं और उनको सौंप दीं. उसी पांडुलिपि के प्रसंग से माहेश्वर जी ने अपनी निज की प्रकाशन संस्था की शुरुआत की. इस तरह मेरा स्वतंत्र रूप से कविता संग्रह तो छप गया, लेकिन उसका वितरण लगभग नहीं हो पाया. एक दिलचस्प तथ्य यह भी है, कि मेरे कविता संग्रह से पहले, इधर-उधर से पांच-सात हजार रुपये इकट्ठा करके मैं, लगभग अव्यावसायिक ढांचे में, अदम गौंडवी की ग़ज़लों की किताब प्रकाशित कर चुका था. इससे भी शायद, अपनी कृतियों के प्रकाशन संबंधी मेरे नजरिये का कुछ परिचय मिले !...

● *आपने कहा, 'स्वतंत्र रूप से कविता संग्रह !' यानी...*

हां, स्वतंत्र रूप से मेरा कविता संग्रह 'खुले में खड़े होकर' डॉ. माहेश्वर की प्रकाशन संस्था 'अप्रतिम प्रकाशन' से १९९१ में आया था. उससे पहले १९६९ में, कानपुर से डॉ. ललित शुक्ल और वहीं के मेरे एक नाम-राशि कन्हैयालाल गुप्त 'सलिल' ने छह कवियों के एक सहयोगी संकलन की योजना बनायी थी, जो तभी 'साठोत्तरी कविता' नाम से दिल्ली के एक प्रकाशन ने छापा था. उसमें प्रत्येक कवि की १०-१० कविताएं, परिचय-वक्तव्य और चित्र के साथ शामिल की गयी थीं. उस संकलन का पहला कवि मैं था. १९६९ में अंतिम महीनों में दिल्ली आया, तो पहला सवाल तो रोजी-रोटी का ही था, लेकिन कहीं न कहीं मन के किसी कोने में साहित्यिक महत्वाकांक्षा दबी ज़रूर थी. मुद्राराक्षस, जगदीश चतुर्वेदी वगैरह से मेरा परिचय पहले से ही था. लेकिन यहां आकर सब कुछ उलट-पुलट गया. लगभग १५ साल तक न रोजी-रोटी मेरी प्राथमिकता रही, न साहित्यिक महत्वाकांक्षा ! दरअसल वह मेरा वैचारिक दीक्षा का काल था.

● *वैचारिक दीक्षा ?... क्या आपका आशय मार्क्सवाद से है ?*

हां, यही समझ लीजिए. मार्क्सवाद से जुड़कर ही मैं अपने पहले वैचारिक प्रेरणा स्रोत विश्वंभर दयाल त्रिपाठी और 'प्रताप' के संस्थापक-संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी का महत्व समझ पाया. बीज रूप में तो मार्क्सवाद मेरे जीवन में, कानपुर-काल में ही दाखिल हो गया था, शील जी के स्नेह-सान्निध्य में, लेकिन उसका रूप भाववादी ज्यादा था. यहां आने के बाद आनंद स्वरूप वर्मा, असित चक्रवर्ती, त्रिनेत्र जोशी आदि के संग-साथ में उसकी सही जमीन मुझे मिली. और जब जमीन मिल गयी, तो हर तरह की कुंठा और वैयक्तिक अभावों से मैं मुक्त-निरपेक्ष हो गया.

19 जून 1942,
उन्नाव (उ. प्र.) जनपद के एक गांव में जन्म

प्रकाशित कृतियां :

(कविता-संग्रह) *साठोत्तरी कविता : छह कवि (१९६९), खुले में खड़े होकर (१९९९).*

(समीक्षा) *पढ़ते हुए (२००२).*

(अनुवाद) *मक़दूनिया की कविताएं (१९९२), अपनी ज़ुबान में : विश्व की विभिन्न भाषाओं की कहानियां (१९९६), मध्य वर्ग का शोकगीत : जर्मन कवि ऐंत्सेंसबर्गर की कविताएं (१९९९), दुनिया का सबसे गहरा महासागर : चेक कवि मिरास्लोव की कविताएं (२०००), देखेंगे उजले दिन : नाज़िम हिकमत की कविताएं (२००३).*

(संपादन) *नागार्जुन : प्रतिनिधि कविता संकलन - जीवनी एवं मूल्यांकन (१९९९) (स्व. डॉ. प्रभाकर माचवे के साथ), गणेश शंकर विद्यार्थी रचनावली - चार खंड (२००३).*

● ***क्या आप मानते हैं कि मार्क्सवादी पहचान वाले सभी लोगों की सोच आपकी ही जैसी है ?***

चंदेल जी, मैं तो कुछ भी नहीं हूं. मुझसे तो सिर्फ़ इतना हो पाया कि अपने जीवन को, जहां तक संभव हो सके, मार्क्सवाद के अनुरूप ढाल लूं. ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं, अब भी हैं, मेरे आस-पास, जिनके सामने मैं कुछ भी नहीं हूं. ऊपर मैंने त्रिपाठी जी और विद्यार्थी जी का उल्लेख किया है. पारिभाषिक ढांचे में भले उन्हें मार्क्सवादी न कहा जाये, लेकिन वे किसी भी रूप में, एक सच्चे मार्क्सवादी से कम न थे. अभी भी कानपुर में, अपने समय के अग्निपुंज, शिवकुमार मिश्र हैं. १९३० के आसपास आजादी के सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन से शुरू करके, सभी कम्युनिस्ट पार्टियों के रास्ते नक्सलवाद तक वे आये. आज ९० साल के वे हैं और युवाओं जैसे जोश से भरपूर हैं. उनके राजनीतिक विश्लेषण भी, किसी अन्य मार्क्सवादी की तुलना में, ज्यादा वस्तुगत होते हैं. उनकी राजनीतिक आत्मकथा का मैं आज तक संपादन कर रहा हूं. पटना के 'फिलहाल' मासिक में उसका धारावाहिक प्रकाशन हो रहा है. मेरे साथियों में स्व. देबू चक्रवर्ती भी अपनी ही तरह के व्यक्तित्व थे. कलकत्ते में असित चक्रवर्ती हैं. कभी गजटेड अफसर हुआ करते थे. भाषा विज्ञानी हैं, स्लाविक भाषाओं के विशेषज्ञ. लेकिन अपने विश्वासों के लिए सब कुछ छोड़-छाड़ कर आज लगभग गुमनामी में दिन काट रहे हैं. और इसका उन्हें कोई अफ़सोस भी नहीं है. यह है मार्क्सवाद की ताकत. मार्क्सवादी कभी हारता नहीं है.

● ***लेकिन आजकल तो.... बहुत से मार्क्सवादी.... ?***

मैं आपका आशय समझ रहा हूं. लेनिन के यहां एक शब्द आया है, 'लीगल मार्क्सवादी' यानी हर ज़गह शास्त्रोक्त आप्त वचनों को यांत्रिक तरीके से उद्धृत करना ऐसे लोगों के सिद्धांत और व्यवहार में खासा अंतर देखा जाता है. जर्मन कवि ऐंत्सेंसबर्गर की एक चर्चित कविता है 'कार्ल मार्क्स'. उसमें ये पंक्तियां इन्हीं लीगल मार्क्सवादियों के बारे में आयी हैं - "ओ महर्षि/ देखता हूं कि तुम्हारे अपने अनुयायियों ने ही/ धोखा किया तम्हारे साथ/ बेशक तुम्हारे दुश्मन वही बने रहे/जो वे थे...."

● ***अच्छा, सलिल जी, माना कि आपका संग्रह देर से आया, तो उसकी वज़हें आपके स्वभाव में थीं. लेकिन पत्र-पत्रिकाओं में भी तो आपकी मौलिक कविताएं कम ही देखने में आती हैं !***

ऐसा है, चंदेल जी, कि इसकी वज़हें भी मेरे अपने स्वभाव में ही हैं. नयी रचना का उत्साह मन में तभी तक रहता है जितने वक़्त तक वह आकार लेती है. रचना ने आकार ले लिया, वह पूरी हो गयी, उसके बाद पचास फीसदी उसकी तरफ से मैं निरपेक्ष हो जाता हूं. दो चार लोगों को पढ़ाने-सुनाने के बाद उससे पूरी तरह निरपेक्ष हो जाता हूं. एक बात और है. ख़तो-किताबत में बहुत लद्दड़ हूं. ज़रूरी पत्रों के उत्तर भी महीनों टलते रहते हैं. यह शिकायत मेरे पिता को रही, मेरे दोस्तों को है. कभी मन ने बहुत जोर मारा, कोई कविता उतरी कहीं भेजने के लिए, कि वह तब तक डायरी में दबी रही, जब तक कि उसका कागज़ बोसीदा नहीं हो गया. मेरी जो कविताएं अब तक छपी हैं, दोस्त संपादकों ने हाथों-हाथ लेकर छापी हैं. शायद एकाध कविता ही ऐसी होगी, जो प्रॉपर चैनल से छपी हो. अलावा इसके, छवि बन जाने की बात भी है. शुरू-शुरू में अनुवाद ज्यादा छपे, तो अनुवादक की छवि बन गयी. रोजी रोटी के लिए किताबों पर लिखना शुरू किया, तो समीक्षक-आलोचक की छवि बन गयी. लोग वैसी ही अपेक्षाएं करने लगे. फिल्मों में 'टाइप' बनने का ख़तरा रहता है. साहित्य में भी उस तरह का ख़तरा कम नहीं है. और मैं कैरियरवादी कभी नहीं रहा, कि आगाही बरतूं. आजकल तो कविता में यहां तक हो गया है, कि जैसा मौसम है, उससे अलग कुछ न बोलो, कुछ न लिखो-छपाओ. कविताओं से तो ऐसा लगता है, मानों उनके रचनाकारों के जीवन का सच उदासी, अवसाद, गुस्से के अलावा कुछ भी नहीं है. जबकि पर्दे के पीछे वे 'प्यार' का हौसला भी

रखते हैं, मीर-गालिब की ग़ज़लें, निराला के गीत भी गुनगुनाते हैं, शराब पीकर उन्मुक्त भी हो लेते हैं. यह द्वैध भाव मुझे न पसंद है, न मुझसे सध पाता है. इसलिए भी मैं ज्यादातर चीज़ें अपने तक ही रखता हूं. दरअसल मुझे कोई ज़ल्दी नहीं है कहीं पहुंचने की. कविताएं मैं अपने लिए लिखता हूं. औरों के लिए उनमें कुछ होगा, तो कभी न कभी बाहर आयेगा ही. मेरे बाद आये, न आये.... क्या फ़र्क पड़ता है.

● ***समकालीन रचनाकारों में किनकी-किनकी रचनाएं आपको अधिक पसंद हैं ?***

भाई, यह सवाल बहुत मुश्किल है. पहली बात यह, कि इस सवाल का उत्तर देने के लिए मन में एक मुकम्मल सूची बनानी होगी, और उस सूची से बहुत से दोस्तों को तकलीफ़ भी हो सकती है, उनमें सबसे ज्यादा मुझे कुंवर नारायण और समवयस्कों में इब्बार रब्बी पसंद आते हैं. कुंवर जी की कविता में कई परंपराओं का संयुजन है और कोई सख्त अनुशासन नहीं है कि हमें ऐसा ही दिखना है. रब्बी की कविता की ताकत उसकी बोलचाल की स्वाभाविक भंगिमाएं हैं, जो किसी चरवाहे तक को अपने साथ बहा ले जा सकती हैं. यह दीगर बात है कि ये दोनों कवि, अपने समय में मुख्य धारा में कभी स्वीकार नहीं किये गये. वैसे, टुकड़ों-टुकड़ों में, मल्ल, आलोकधन्वा, पंकज सिंह, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, अरुण कमल, नरेंद्र जैन, विजयकुमार आदि कई मेरे प्रिय कवि हैं.

● ***इनमें महिला कवियित्रियों की सर्वथा अनुपस्थिति ?...***

नहीं ! मैं पुरूषवादी सोच का नहीं हूं. हां, अवचेतन में यह बात शायद रही हो, कि महिलाओं द्वारा लिखी गयी कविता, समकालीन दौर में, एक अलग धारा की भांति ली जाती है. पहले ऐसा नहीं था. सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, यहां तक कि कीर्ति चौधरी, स्नेहमयी तक को पूरे काव्य-परिदृश्य में देखा-परखा जाता था. अब जो, देखने का, यह अंतर आया है, उसकी अपनी वज़हें होंगी.... कात्यायनी का पहला संग्रह मुझे उनके बाद के संग्रहों पर अब भी भारी लगता है. उसमें काव्य-कला और विचार-दृष्टि का अपेक्षाकृत अधिक संतुलन है. निर्मला गर्ग की कविताएं भी मुझे पसंद हैं. मिट्टी की गंध जैसी सहजता और संघर्षशील जन जीवन की पक्षधरता निर्मला की कविता की ताकत है, जो मुझे आकृष्ट करती है. कवि की काव्य-अभिज्ञा का क्रमिक विकास भी उनके यहां गौर किया जा सकता है. एक बात यह भी, कि नारीवादी आग्रहों से भी उनकी कविता ज्यादा संचालित नहीं होती. एक भिन्न स्तर पर सविता सिंह की कविताएं भी मुझे आकृष्ट करती हैं. वे बाहर के बजाय भीतर की कविताएं हैं. कहें कि स्त्री होने की ताकत या विडंबना (?) की कविताएं ! उनके संश्लिष्ट बिंबों में अंतर्द्वंद्व की प्रखरता है और तनी हुई रस्सी पर चलने जैसी संयत सतर्कता. सविता की कविताएं एक सुपठित सहृदय को संवेदन के स्तर पर विचलित तो करती हैं, लेकिन सच यह भी है कि उनके यहां भावक की रसाई की गुंजाइश कम से कम है. इन अर्थों में उनमें एक प्रकार का अभिजात्य तत्व भी रला-मिला है. अभी हाल में, मुक्ता का कविता संग्रह 'जाने क्यों बार-बार' आया है. एक कवि की सांस्कृतिक तैयारी और स्त्री मन के दिगंतों तक तने संवेदनालोक की दृष्टि से इस संग्रह को एक कवि की सोच कहना गलत नहीं होगा. मुक्ता के यहां भी स्त्री विमर्श है, लेकिन उसमें जर्मेन ग्रीअर, नौमी वुल्फ़ की बजाय जाबाला, गांधारी, बृहन्नला, गोदना गोदने वाली आदि की आवाजें अधिक स्पष्टता से सुनी जा सकती हैं. इधर आदिवासी अंचलों से उठता एक और महिला कवि-स्वर भी अपनी भरपूर उठान के साथ सुनाई दे रहा है. मेरा आशय निर्मला पुतुल की कविता से है.

● ***कविता के प्रयोजन से स्त्री-विमर्श पर भी थोड़ी बात हुई ! आजकल दलित-विमर्श भी, साहित्य के खित्तों को गुंजा रहा है.***

देखिए, चंदेल जी, कविता हो या कथा-साहित्य, जितना ही वैविध्य उसमें होगा, वे समृद्ध होंगे. उनका स्वभाव इंद्रधनुषी होना ही चाहिए. लेकिन जहां तक स्त्री-विमर्श या दलित-विमर्श की बात अलग से है, विश्व समाज के समग्र बदलाव की दृष्टि से, ये विमर्श मुझे बहुत उत्साहित नहीं करते. इससे हमारी सामूहिक शक्ति विखंडित होती है. विखंडन तो किसी उत्तर आधुनिकतावादी में ही उत्साह का संचार कर सकता है. वर्गीय अवधारणा के बाहर कोई भी विमर्श जन आकाक्षाओं की अभिव्यक्ति तो नहीं ही माना जायेगा.

● ***कविताओं के अनुवाद आपके प्रायः प्रकाशित होते रहे हैं. कहानियों के अनुवाद की बात भी आपने अभी कही ? अपने अनुवादक पक्ष के बारे में कुछ बताइए !***

कविताओं के अनुवाद मैं १९७० से लगातार करता रहा हूं. याद आता है, छठवीं कक्षा में अंग्रेजी की 'रीडर' में अमरीकी कवि एमर्सन की एक कविता थी, जिसकी पहली पंक्ति कुछ इस तरह थी- 'नॉट गोल्ड, बट ओनली मैन कैन मेक ए नेशन ग्रेट एंड स्ट्रांग'. उसे मैं हिंदी कविता के लय में गाने की कोशिश करता. किसी को सुनाता, तो वह पूछता, कि इसका मतलब क्या है ! मतलब बताता, तो वह कहता, इस मतलब को कविता में कहो. तब मैं एक तरह की असमर्थता से, भीतर ही भीतर खीझ उठता. यह बात आगे चलकर शैली, वर्ड्सवर्थ, लांगफेलो की कविताएं पाठ्यपुस्तकों में पढ़ते वक़्त भी एक चुनौती की तरह याद रहीं. बाद में, बी. ए. की पढ़ाई अधूरी छूट जाने के बाद, कानपुर के युनिवर्सल बुक स्टाल में तीन साल नौकरी की, तो वहां इंग्लैंड-अमेरिका का ढेरों साहित्य देखने-पढ़ने को मिला. ड्यूटी से वक़्त चुरा कर पढ़ता रहता. घर में भी ज्यादातर पढ़ना, पढ़ना और पढ़ना... उस दौरान भी मन ही मन अनुवाद की वर्जिश चलती रही. जो कुछ पढ़ता और अच्छा लगता, तो इच्छा होती कि इसे अपने शब्दों में कहूं. उस दौरान ब्रिटिश कवि-कथाकार डी. एच. लॉरेंस की कविता 'मैनीफेस्टो' अपने पूर्व शिक्षक और वरिष्ठ

सुरेश 'सलिल' की कविताएं

हमारे हिस्से गुजरात

बचपन में बतायी गयी वर्तनी से
नहीं लिख पाता हूं अब कश्मीर,
नहीं पढ़ पाता हूं अब गुजरात
बचपन में बतायी गयी वर्तनी से.
एक पत्थर आकर टक्कर मारता है,
चकनाचूर हो जाती है स्लेट
और टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर जाते हैं
हब्बाख़ातून और नरसी भगत के चेहरे.
(हम उनके आंसू भी नहीं चुन पाते...)
फट-फट गयी हैं अंगुलियों की पोरें
आंसू चुनते हुए
और क़तरा-दर-क़तरा टपक रही है
वली औरंगाबादी की ख़ूनआलूदा आवाज़,
'गुजरात के फिराक सूं है ख़ार-ख़ार दिल...
मरहम नहीं है इसके ज़ख़्म का जहां मने...'
फ्रीज हो गये इस सीन को
फेड-आउट करना मुझे नहीं आता -
पृष्ठभूमि संगीत में
बहती नदी न दी तुमने
धुएं की लकीर पीछे छोड़ती
गुजरती ट्रेन की सीटी की
बेताब करने वाली कूक...
हमारे हिस्से गुजरात आया
सब्ज़ नग़मात का क़त्ले-आम..
जो गुजरात वली का हयात था
देखिए, क़त्ल की रात में ढल गया !
जो गुजरात
गुलाम मोहम्मद शेख़ की शक्ल था
देखिए,
वस्ल की मात में
ढल गया...!

नादिरशाह

इतिहास की किताबों को अब अलविदा कहो,
नादिरशाह !
एक सतर की भी तो गुंजाइश नहीं बची उनमें तुम्हारे लिए.
कितना बेमुरौव्वत है वक़्त
कि वह हमलावरों के आगे
लुटेरे-कातिलों को भाव ही नहीं देता !
तुम्हारा तो खुला खेल फर्रुख़ाबादी था -
मालमत्ता लूटने आये थे, सो लूटा
और लूट के रास्ते में जो आया, उसका सफ़ाया,
इस तरह तीन दिन में तीस हज़ार का रिकॉर्ड
तुम्हारे नाम आया.
तीस हज़ार की गिनती तीस लाख भी हो सकती थी
बशर्ते किसी शा'इर ने यह शे'र न कहा होता-
'कसे व मांद कि दीवार ब तेग़े नाज़कुशी
मगर कि ज़िंदा कुनीख़ल्करा ब बाज़कुशी.'
तलवार और तेग़, मिसाइल और एटमबम के साथ
शा'इरी का भला क्या रिश्ता !
सफ़ेद महल के बाहर शा'इर सीना कूटते रहे
और अरब की खाड़ी से टनों भारी
बंकरफोड़ निशाने की जानिब छूटते रहे.
और यह सब जम्हूरियत के नाम पर
और यह सब एटमबम से एटमबम के ख़ात्मे के नाम पर...
तुम भेड़ें चराते हुए बादशाहत तक पहुंचे थे
लिहाज़ा तख़्तेताऊस और कोहेनूर से बड़ा
कोई ख़्वाब कैसे देख सकते थे !
नशीली दवाओं की तिजारत तो तुमने की नहीं
न पेट्रो-एम्पायर का ख़्वाब ही पाला,
वैसी हालत में तुम्हे पागल होना ही था
और तुम हुए
इतिहास से बेदखल होना ही था
और तुम हुए...

हर्फ़े - गुजरात

✍ सुरेश सलिल

हर्फ़े-गुजरात फ़क़त आंसू हैं,
मेरे दिन-रात फ़क़त आंसू हैं.
देखिए तो ज़रा य' पसमंज़र,
आबे-खंमात फ़क़त आंसू हैं.
आप आये हैं, मिहरबानी है,
क्या करूं बात, फ़क़त आंसू हैं.
दास्तां दिल की क़लमबंद करूं,
वाह, क्या बात, फ़क़त आंसू हैं.
रंजना अरगड़े - सुल्तान अहमद,
सारे हज़रात फ़क़त आंसू हैं.

मित्र प्रोफेसर ओंकार शंकर विद्यार्थी (गणेश शंकर विद्यार्थी के कनिष्ठ पुत्र) से खास अंदाज में पढ़ी. बाद में उसका अनुवाद करने की कोशिश भी की, मगर सध नहीं पाया. ऐसी ही कोशिशें प्रथम विश्व युद्ध काल के ब्रिटिश कवि रूपर्ट ब्रूक के साथ भी थीं. लेकिन तब तक कविता का डिक्शन तो मेरे पास था नहीं, कवि सम्मेलनी किस्म का माहौल था आस-पास. लिहाज़ा इस क्षेत्र में कामयाबी नहीं मिल पायी. १९६६-६७ के दौरान कुछ महीने लखनऊ-इलाहाबाद में, साठोत्तरी आंदोलन के बीच गुज़रे. तब यह बात शिद्दत के साथ महसूस हुई, कि कविता के क्षेत्र में कुछ भी करना है, तो दुनिया के कवियों को जमकर पढ़ना होगा. लेकिन उपयुक्त साधन नहीं मिले - वातावरण नहीं मिला. हां, इस बीच नयी तरह की कविताएं ज़रूर लिखता रहा, जो 'वातायन', 'अर्थ', 'संभावना', 'अंतर', 'उन्मेष' आदि पत्रिकाओं में छपीं भी. 'साठोत्तरी कविता' में प्रकाशित हुआ, लखनऊ रेडियो पर नवलेखन में शिरकत की... दिल्ली आया, तो पता चला वैचारिक दृष्टि से तो शून्य हूं. परिणामस्वरूप कुछ समय तक कवि बनने की महत्वाकांक्षा तहाकर रख दी. उसके बाद की व्यस्तताएं - संलप्ति एक अलग अध्याय हैं. लेकिन दोस्तों के साथ, कॉफी हाऊस में कविता पर, साहित्य पर, राजनीति पर चर्चाएं बहसें तो रोज़ होती थीं. उन्हीं बहसों के बीच मार्क्सवाद मेरी वैचारिक प्राथमिकता और बर्टोल्ट ब्रेस्ट, पाब्लो नेरूदा, नाज़िम हिकमत, मायकोव्स्की आदि बीसवीं सदी के महान कवियों, अफ्रीका, लातिन अमेरिका, पूर्व योरपीय देशों की कविता से निकट संपर्क बना. हमारी गोष्ठी में कई बंगाली भाषी मित्र भी थे - असित चक्रवर्ती, देबू चक्रवर्ती, एस. एन. गुप्ता आदि. उन्होंने नज़रूल इस्लाम, जीवनानंद दास, सुकांत भट्टाचार्य और पूर्व बंगाल (बाद में बंगला देश) की कविता से परिचय कराया. बंगला भाषा में भी थोड़ी गति बनी. इस तरह धीरे-धीरे दुनिया के मेरे प्रिय कवियों की सूची लंबी और-और लंबी होती रही.

मौलिक कविता इस बीच लगभग मुल्तवी रही, लेकिन काव्य-भाषा और कविता का अपना लहज़ा तो विकसित करना ही था. लिहाज़ा अपने प्रिय कवियों की प्रिय कविताओं के अनुवाद करने लगा. संपादकों और पत्रिकाओं के बीच उनका स्वागत हुआ. अपनी कविता को दोबारा गंभीरता से लेना मैंने १९८० के आसपास शुरू किया. अब तक अनगिनत कवियों और कविताओं के अनुवाद कर चुका हूं. नाज़िम, चैक कवि मिरोस्लॉव होलुव, जर्मन कवि हांस माग्नुस ऐंत्सेंसबर्गर और मक्दूनिया के कुछ कवियों के अनुवाद पुस्तकाकार भी आ चुके हैं. जापानी कवियों के सर्वाधिक अनुवाद भी शायद हिंदी में मैंने ही किये हों. हिंदीतर भारतीय और विदेशी कविता और कवियों पर एकाग्र गद्य की पुस्तक 'पढ़ते हुए' भी मेरे खाते में है. इधर एक बड़ा काम संपन्न हुआ है - बीसंवीं सदी की दुनिया की महत्वपूर्ण कविता का एक संचयन. ३१ भाषाओं के११४ कवियों का परिचय और उनकी कविताएं. यह अभी प्रकाशन की प्रक्रिया में है - शायद जनवरी २००४ तक आ जाये.

● ***गणेश शंकर विद्यार्थी पर शायद सिलसिलेवार हिंदी में काम आपने ही किया है. इसकी प्रेरणा का स्रोत ?***

मैंने कहा है, 'प्रताप' अखबार मेरे यहां शुरू से आता था. उस पर विद्यार्थी जी का फोटो छपता था. वह देखा, तो जिज्ञासा हुई कि गणेश शंकर विद्यार्थी कौन हैं ? बताया गया, कि वे अब नहीं हैं. सांप्रदायिक सद्भाव कायम कराने की कोशिश करते हुए शहीद हो गये थे. दसवीं कक्षा में उनका एक रेखाचित्र 'महाराणा प्रताप' मेरे पाठ्यक्रम में था. कानपुर आया, तो शाम को रोज प्रताप प्रेस जाता अख़बार पढ़ने. उनके छोटे बेटे प्रोफेसर ओंकार शंकर जी के साथ उठना-बैठना शुरू हुआ. यह सब तो ठीक, लेकिन गणेश शंकर विद्यार्थी का वास्तविक महत्व मुझे दिल्ली आने के बाद पता चला. कॉंग्रेस में सक्रिय रहते हुए उन्होंने किस तरह हिंदी क्षेत्र में वाम पक्ष की विचारधारा का प्रसार किया, क्रांतिकारी आंदोलन को नैतिक-भावनात्मक समर्थन दिया वह सब यहीं आकर पता चला. तभी मेरे मन में यह विचार आया, कि विद्यार्थी जी पर काम करना चाहिए. १९७६ से इस दिशा में सक्रिय हूं. विद्यार्थी जी की लगभग गुमशुदा जेल डायरी की खोज मैंने की. उसे संपादित करके छपाया. कई संचयन तैयार किये. चार खंडों में उनकी रचनावली भी तैयार की, जो अभी-अभी प्रकाशित हुई है. अभी भी उनकी कई चीज़ें अनुपलब्ध हैं. चाहता हूं कि जीवन रहते उनका मैक्जिमम सुरक्षित कर जाऊं.

● ***आगे की योजनाएं ?.....***

देखिए, अगले वर्ष मुझे अपने तीन कविता संग्रह लाने हैं - एक ग़ज़लों का, एक शेष गीतों का और एक कविताओं का. इसके अलावा जो हो जाये...

ई-१४, गली नं. ५, सादतपुर विस्तार,
दिल्ली-११० ०९४.

डॉ. रूपसिंह चंदेल

बी-२३०, गली नं. ३, सादतपुर विस्तार,
दिल्ली-११००९४.

पुस्तक समीक्षा

लीक से हटकर है 'मालवगढ़ की मालविका'

✍ डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र

मालवगढ़ की मालविका (उपन्यास) : *संतोष श्रीवास्तव*
प्रकाशक - मेधा बुक्स, एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली ११० ०३२
मूल्य : १७५ रु.

शीर्षक से उपन्यास अपने ऐतिहासिक होने का आभास देता है या फिर रहस्य रोमांच आदि की कथा होने का अनुमान लगाया जाने लगता है. लेकिन आदि से अंत तक पाठक को बांध रखने वाली यह औपन्यासिक कृति विशेषतः नारी विमर्श पर आधारित है. मालवगढ़ के जमींदार घराने में स्त्री पुरुष के बीच भेदभाव वाले मध्यकालीन सामंती नियम कायदे लागू हैं, लेकिन नयी पीढ़ी इस व्यवस्था से विद्रोह करती है. रोम यूनिवर्सिटी से पी-एच. डी. करने का स्वप्न पूरा करने वाली पायल अपनी दादी मालविका द्वारा उठायी गयी विद्रोह की मशाल को उसकी अंतिम परिणति तक पहुंचाती है. उसकी कथनी और करनी में कोई अंतराल नहीं है. वह विद्रोहिणी, आत्मनिर्भर नारी का प्रतिरूप है - "मुझे तो अपने मानव स्वरूप का चुनाव करना है और वो मैंने कर लिया. पदार्थ बनकर, पुरुष की संपत्ति बनकर नहीं जीना है मुझे, बल्कि गति बनकर जीना है."

मध्यकालीन मान्यताओं से लिपटी उस हवेली के बाशिंदों में दादी मालविका में पर्याप्त लचीलापन है. वह अपनी ननद संध्या के प्रेम का समर्थन करती है और मंदिर में ले जाकर गंधर्व विवाह करवाती है. मालविका के पति अंग्रेज़ों से दोस्ताना संबंध रखते हुए देश की आज़ादी के लिए समर्पित क्रांतिकारियों को पूरा समर्थन प्रदान करते हैं. अपने क्रांतिकारी मित्र मिश्रीदत्त के शहीद होने का दुखद समाचार सुनकर गहरा सदमा लगने से वे चल बसे. हवेली की नकेल अपने हाथ में रखने वाली बड़ी दादी ने मालविका को सती होने का आदेश दिया. मालविका की अनिच्छा के बावजूद उसे पति की चिता पर लिटाया गया. इस प्रसंग में जिजीविषा का.... जीवित रहने के मोह का लेखिका ने बड़ा कुशल अंकन किया है - ...आंसुओं की लकीरें और होंठ पपड़ा गये थे. हिम्मत करके वे बड़ी दादी के कदमों पर गिर पड़ी - "नहीं जीजी...इतनी कठोर न बनो...मैं सती होना नहीं चाहती. क्यों आप सब चाहती हैं कि मैं सती हो जाऊं. मेरे बाद इस कोठी का क्या होगा ? कौन देखभाल करेगा इसकी ? उनके अधूरे कामों को कौन पूरा करेगा ?"

अपने विरक्त एवं सन्यासी पति के प्यार से वंचित कुंठित बड़ी दादी पूरी कोठी के जीवन को नारकीय बनाये हुए हैं. मालविका सती न हो सकी क्योंकि एक अंग्रेज़ अधिकारी जिम वेल ने अचानक आकर उन्हें चिता से उठाया और अपने घोड़े पर बैठकर ले भागा. जिम मालविका को प्यार करता है और यह बात मालविका जानती नहीं है. अपने बचाये जाने पर वह जिम से प्रश्न करती है - "आप कौन हैं मेरे ? बोलिए... मुझे बचाकर पापी क्यों बनाया आपने ?"

जिम अचानक उत्तेजित हो उठता है - "और वह पुण्य था जो आपके परिवार वाले आपके संग कर रहे थे ? आपका मर्डर कर रहे थे सब मिलकर. मैं चाहूं तो सबको फांसी पर चढ़ा दूं. है कोई ऐसा कानून जहां इंसान को ज़िंदा जलाना धर्म हो ?"

तमाम तर्कों के बाद जिम-मालविका का ब्याह हुआ. दोनों शिमला में रहने लगे. मालविका को लेखिका ने सौंदर्य, उदारता, कर्मठता, कर्तव्यपरायणता और माया, ममता के तत्वों से निर्मित किया है. उसकी मृत्यु के डेढ़ वर्ष बाद जिम भी स्वर्ग सिधार गया. लेकिन पायल की पृष्ठभूमि में हिंदू समाज की कूपमंडूकता एवं जड़ता साकार हो उठी है. धर्म परिवर्तन की राह खुद हिंदू समाज दिखाता रहा है और अपने गिरेबान में झांकने के बदले दूसरों पर दोषारोपण करता रहा है.

मानव सेवा केंद्र की स्थापना करने वाली मारिया का चरित्र भी प्रभावशाली है. उसका प्रेमी थॉमस भी अपना सब कुछ त्यागकर मारिया की समाज सेवा में उसका साथ देता है. उपन्यास की सबसे बडी खूबी यह है कि उसमें वैचारिक फ़सल उगने के बदले सारी बात आकर्षक कथा शैली के माध्यम से कही गयी है. पृष्ठभूमि में क्रांतिकारी आंदोलन और अगस्त क्रांति की अनुगूंज है. पायल के रोम प्रवास के बहाने वहां के परिवेश का यथार्थ एवं रोचक वर्णन है. सारी कथा पूर्वदीप्ति शैली में पायल के आत्मकथ्य के रूप में कही गयी है. संपूर्ण उपन्यास में पारिवारिक वातावरण एवं खून के रिश्तों की माया-ममता छाई हुई है. आंचलिक उपन्यास न होते हुए भी राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन की छवि अंकित है -

'...मालविका की बड़ी ननद उषा के बेटे होने की खुशी में नृत्यमंडली न्यौती गयी है. उनका नाच क्या था... करतब था सर्कस जैसा. छोटी सी परात के किनारों पर दोनों पैर जमाकर वह नाचने लगी, चकरघिन्नी सी. न परात मुड़ी न वह गिरी. जब, उसका नाच ख़त्म हुआ तो दूसरी कुलाटियां खाने लगी और मुंह में उंगलियां फंसाकर अजीब सी आवाजें निकालने लगी. तीसरी ने सात घड़े एक के ऊपर एक सिर जमाये और ठुकम-ठुमक कर नाचने लगी. बड़ी दादी ने सौ का नोट उसके सिर पर घुमाया.'

संतोष श्रीवास्तव का गद्य अपनी विशिष्ट छाप छोड़ने वाला है. ताज़गी भरी उपमाएं प्रयुक्त कर गद्य को काव्यात्मकता से युक्त किया गया है- 'धीरे-धीरे अंगड़ाई लेती हुई, फूल की पंखुड़ी सी खिलती वाराणसी नगरी...'

'सुबहे बनारस की निर्मल ताज़गी फ़ोटो के निगेटिव की तरह धुंधली थी...'

डायरी शैली का भी दो तीन स्थानों पर प्रयोग किया गया है. मुखपृष्ठ पर दिया गया रवि वर्मा अंकित नारी चित्र उपन्यास की नायिका मालविका की प्रतिकृति ही लगता है. उपन्यास का टटकापन पाठक को शुरू से अंत तक बांधे रखने में सक्षम है. संतोष श्रीवास्तव से अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासों की अपेक्षा है क्योंकि उनमें लीक से हटकर चलने की क्षमता है.

४६, पवन ले आउट, रिंग रोड,
नागपुर-४४० ०२२

रूढ़ियों के मकड़ी जाले से बाहर आती नारी

डॉ. मृत्युंजय उपाध्याय

आठवीं लड़की का जन्म (कहानी संग्रह) : कनकलता
प्रकाशक : अनामिका प्रकाशन, १८५ नया बैरहाना, इलाहाबाद,
मूल्य : १५० रु.

आठवीं लड़की का जन्म नारी प्रधान कहानियों का संकलन है. आज के जीवन में जो विसंगतियां, भ्रष्टाचार, शोषण और विरूपताएं हैं, उनका एक पक्ष, आधी दुनिया पर होते अनवरत जुल्म की कहानी है. सृष्टि की आदिशक्ति जाया, पुरुष प्रधान समाज में असुरक्षा, अनाचार और शोषण का दंश झेलने के लिए अभिशप्त है. देवी प्रसाद मिश्र नारी की स्थिति दर्शाते हुए कहते हैं, नारी पुदीने की तरह पिसती, तिलचट्टे सी कहीं कोने अंधकार में पड़ी, प्याज सी कहीं ठगी रहती है. नारी शोषण में पुरुष समाज की सक्रियता व साजिश के साथ सड़े-गले रीति रिवाजों के शिकंजे में जकड़ी परिवार की महिलाएं भी कम दोषी नहीं हैं.

शीर्षनामा कहानी "आठवीं लड़की का जन्म" की नायिका बिखिया सात बेटियों को जन्म देने के कारण परिवार, एवं पति द्वारा हमेशा लांछित और प्रताड़ित की जाती है. पति ने दूसरी शादी करके बिखिया को दूध की मक्खी की तरह अपने जीवन से निकाल फेंका. पति, सास, जिठनी और सौत द्वारा अनवरत अपमानित किये जाने पर बिखिया अपनी बेटियों के साथ घर से निकल जाती है. हाड़तोड़ परिश्रम कर स्वयं का एवं बेटियों का पेट पालती है. पति की मृत्यु होने पर परिवार द्वारा वैधव्य का शोक मनाने के लिए बाध्य किये जाने पर वह तल्ख-तुर्श तेवर में कहती है - कौन सा सुख उस भड़ुए ने दिया, हमको.... कि हम उसके मौत का सोग मनायें.... रंडापा मनायें.....

यह सोच आग का धधकता हुआ वह शोला है, जो दुर्व्यवस्था और रूढ़ियों की घास-पतवार को जलाकर भस्म करने की दिशा में नारी का दृढ़ संकल्प बन उभरा है.

'नियति के घेरे में' कहानी की रमरतिया की व्यथा कथा को पढ़कर करुणा भी करुणार्द्र हो उठेगी. विधवा रमरतिया को अनुकंपा के आधार पर नौकरी मिल जाती, मगर उसके देवर ने छल-प्रपंच से उसे अपने मोहजाल में फांसकर उसे बीवी का दर्जा देने का प्रलोभन दिया, और उसके साथ पति की तरह रहने लगा. रमरतिया को धोखे में रखकर सिमरा खुद नौकरी हड़पकर रमरतिया को दूध की मक्खी तरह अपने जीवन से निकालकर दूसरी शादी रचाने का षड़यंत्र करने लगा. रमरतिया इस जुल्म के विरोध में चिनगारी सी चिनक उठी....

"मैं तो जात बिरादरी सबके सामने अरदास करूंगी, जब हमसे शादी नहीं करनी थी, तो सिमरा आज तक हमारे साथ पति की तरह क्यों रहा..."

पति और परिवार के षड़यंत्र की शिकार बन रमरतिया बेमौत मारी जाती है. हत्यारे पति और उसके परिवारवालों ने पुलिस प्रशासन और युवा नेता की मुट्ठी गर्म कर हत्या जैसे जघन्य अपराध को छिपा लिया.

लेखिका ने उच्च वर्ग की शोषित महिलाओं के दर्द को उकेरते हुए इस कटु सत्य से रूबरू कराया है कि "नारी चाहें महलों में रह रही हो या झोपड़पट्टी में, हर ज़गह वह शोषण की शिकार बनकर भुरभुरी ज़मीन पर खड़ी है."

"झोपड़पट्टी की रमरतिया और महलों की समिधा तथा अनुराधा... एक बिंदु पर आकर भुरभुरी जमीन के दलदल पर खड़ी होने की नियति से एक जैसी बंधी हैं."

'एक सच की मौत' में भ्रष्ट व्यवस्था, मनुष्य की पैशाचिक प्रवृत्ति एवं उसकी बर्बरता का सजीव वर्णन हृदय को झकझोरने में सक्षम है. जोरावर ठकुर जो चोरी, डकैती, छोकरीबाजी में पारंगत है, अपने बाहुबल से विधायक बन गये. भट्ठे पर काम करने आयी युवती फुलौना को उनके शागिर्द उठा लेते हैं. विधायक और उनके चेले-चमचे फुलौना के साथ मुंह काला करने के पश्चात् उसके विरोध करने पर, निर्ममतापूर्वक उसे मार पीट कर वीरान जंगल में पटक आते हैं. सुनसान जंगल में जीवन के लिए संघर्ष करती हुई फुलौना दम तोड़ देती है. सवेरे मृत नारी की लाश को बर्बर पुलिस बांस के दोनों सिरों से बांधकर जानवर की तरह टांग कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है. जनता पुलिस का यह जघन्य कृत्य देखकर क्रोध से बिफर उठती है. ढेला, पत्थर और गालियों से पुलिस वालों की ऐसी की तैसी करने पर उतारू हो उठती है.

"स्साले कमीने ये आदमी हैं, या राक्षस.... एक औरत की नंगी लाश बांस पर झुलाते ऐसे ले जा रहे हैं, जैसे मरे हुए जानवर को ढो रहे हो..... हरामी के पिल्लों की अपनी मां-बहन, बेटी नहीं है, क्या ?"

"प्रतिशोध" की नायिका सुमन पति और समाज के तथाकथित ठेकेदारों के हृदय दहलाने वाले जुल्म और अत्याचार से टूट जाती है, हताश हो जाती है. कभी चोर, बलात्कारी रहा मिनिस्टर अपने साथियों के साथ उसका गहना, पैसा लूटने के

पश्चात उसकी अस्मिता को तार-तार कर डालता है. पति कमलकांत अपनी नौकरी के लिए पैसे वाले एक व्यक्ति के समक्ष अपनी पत्नी को परोसने का गर्हित कार्य करता है. वह आततायियों से स्वयं बदला नहीं ले पाने के कारण क्षुब्ध हो उठती है, मगर तत्क्षण बिजली के करेंट सा मस्तिष्क में उठा विचार उसकी धमनियों में बहते लहू के हर कतरे को चिनगारी सा भभका डालता है. वह दृढ़ संकल्प करती है कि स्वयं आततायियों से बदला न ले सकी, मगर अपने स्कूल में पढ़नेवाले बच्चों को इतना सशक्त बनायेगी, जो उसके साथ हुए जुल्म का प्रतिशोध अवश्य लेंगे.

"एक सुमन की आवाज कमजोर पड़ गयी... अत्याचारी के अत्याचार का ढिंढोरा पीटने में समर्थ न हो पायी. वह अपने स्कूल में पढ़ रहे सारे जुगनुओं को तिमिराच्छन्न आकाश की छाती पर खींच लायेगी. एक सुमन की ज़गह सौ सुमन पैदा होंगी, एक मुन्ना के बदले सहस्त्र मुन्ना धरती की छाती पर उतरेंगे."

"गांधारी ने आखें खोली" लंबी कहानी है. इस कहानी की नायिका सुचित्रा वैधव्य का अभिशाप पाकर अनवरत संघर्षरत रहती है. घर और समाज सभी उपेक्षा और अपमान के तीर-तमंचे से उसे लहुलूहान करते रहते हैं. मगर सुचित्रा परिवार और समाज को चुनौती देती हुई अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती रहती हैं. तमाम जुल्मों को झेलती हुई वह एक दिन अपनी मंजिल तक पहुचती है. नारी की त्रासदी का सुंदर और सशक्त ढंग से प्रस्तुतीकरण कहानी में हुआ है.

लेखिका ने देश काल, पात्र, परिस्थिति के अनुसार सुचित्रा के अनवरत संघर्ष एवं विजय की कहानी को लिपिबद्ध किया है. सुचित्रा संपूर्ण नारी समाज के उत्थान के लिए कटिबद्ध होकर नारी के महत् उद्देश्य को प्राप्त करती है.

"नहीं.... मैं कभी घुटने नहीं टेकूंगी. टूट जाऊंगी, मगर झुकूंगी नहीं. शक्ति की पूजा का ढोंग रचानेवाले जेठ जी को शक्ति के असली रूप से अवश्य परिचित कराके रहूंगी."

"अंजोरिया" में नारी की विवशता, उसकी परतंत्रता और उसके शोषण का मार्मिक विवरण है.

आंचलिक भाषा के प्रयोग ने ग्रामीण परिवेश को जीवंत कर दिया है. आभिजात्य वर्ग की सुचित्रा, सुभाष आदि की भाषा तत्सम प्रधान है. "करमजली, कुलच्छनी, भरभर अंखिया लोर चुआती रही," आंचलिक भाषा के ऐसे प्रयोगों ने कहानी को सशक्त बनाया है. स्थितियों के अनुसार पात्रों का अंतर्द्वंद्व उतना नहीं खुल पाया है, फिर भी कहानियां प्रभावित करती हैं.

भाषा में सहज प्रवाह है. नये अछूते बिंब जहां घटना और परिवेश को स्पष्ट करते हैं, वहीं मन को बांधते हैं.

वृंदावन, राजेंद्र पथ,
धनबाद-८२६ ००१ (झारखंड)

स्त्रियों की मानसिकता का सफल बयान

✍ राजेंद्र आहुति

"वामा" (कहानी संग्रह) : ए. असफल,
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३, ***मूल्य*** : १०० रु.

चर्चित कथाकारों की पांत में निरंतर अच्छी कहानियां लिखते और छपते रहने की वज़ह से ए. असफल सजग पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं. कथा की प्रायः सभी पत्रिकाओं में ए. असफल की कहानियां प्रकाशित और चर्चित रही हैं. अद्भुत विशिष्ट शैली, कलात्मक अभिव्यक्ति, बिंबों का सटीक प्रयोग, सामाजिक परिवर्तनों से उपजी विकट छटपटाहट, मौसम और समय का संकेत कहानियों में दर्शाने और पुनः कहानी के प्रवाह में लौट आने की कला में पारंगत होने के कारण इनकी कहानियां समय-समय पर पुरस्कृत भी होती रही हैं.

'वामा' कहानी संग्रह में 'वामा' शीर्षक से कोई कहानी नहीं है फिर भी यह बारह कहानियों का एक सफल दस्तावेज़ है. 'वामा' का अर्थ स्त्री होता है और वर्तमान काल में सर्वत्र स्त्री विमर्श का वर्चस्व व्याप्त है. शायद इसी उद्देश्य से ए. असफल की बारहों कहानियों का केंद्रबीज स्त्री ही है, जो मद्धिम आंच पर स्वयं को परिपक्व करने की उत्कंठा में यदा-कदा मुखर अभिव्यक्ति में भी समय से संवाद कर उठती है. हमारी अवधारणा में वही कहानियां अच्छी होती हैं जो पढ़ने के पश्चात भी दिमाग मे चढ़ी रहती हैं और रह-रहकर बेचैन भी कर डालती हैं. ऐसी कहानियों में संग्रह की पहली कहानी 'प्रत्यर्पण' अपना नाम दर्ज स्वतः ही करवा जाती है. पति-पत्नी की जमीन पर खड़ी यह कहानी एक-दूसरे से अलग होने की कामना में कई बिंदुओं से गुज़रती है.

स्वभावतः पति एक मात्र बच्चे को मां के सहारे छोड़कर मुक्ति की सांस लेने निकल पड़ता है. लेकिन पत्नी उसका पीछा करती है, कभी यथार्थ में, कभी कल्पनाओं में. पत्नी भी मुक्ति की सांस अपनी छातियों में उतारना चाहती है. पुरुष की तरह वह भी स्वतंत्र निर्णय ले सकती है, अलग से नया जीवन गढ़ सकती है जिसमें बाधक बनता है अबोध बच्चा, जो पेट में सिर्फ स्त्री की कृपा से नहीं पुरुष के सानिध्य से पलता है, और सर्वप्रथम पारिवारिक या व्यक्तिवादी विवाद से पुरुष ही उससे किनारा करके नयी दुनिया की तलाश में घर को त्याग देता है. मगर 'प्रत्यर्पण' की नायिका पुरुष के एक-तरफा निर्णय पर अंकुश लगाती है और स्वयं भी बच्चे से मुक्ति का निर्णय सिर्फ लेती ही नहीं, उसे सच में भी ढाल देती है. 'प्रत्यर्पण' कहानी की अंतिम पंक्तियां पाठक को हिला कर रख देती हैं - 'बेटा उसकी गोद में रह गया था, पत्नी अदृश्य हो गयी थी. यह तो उसने सोचा भी नहीं था कि

स्त्री भी एक स्वतंत्र व्यक्ति है... और वह भी कभी कोई निर्णय ले सकती है. ...अब उसे बस के इंजन की तरह अपने भीतर भी बड़े जोर की घड़घड़ाहट होती महसूस हो रही थी.'

लेखक अपने आस-पास के परिवेश से अपनी कहानियों के लिए स्त्री या पुरुष पात्रों का चयन करता है. संग्रह की दूसरी कहानी 'प्रेम' भोगा यथार्थ और परकाया प्रवेश का सफल चित्रण है. ऐसा ही आभास प्रायः सभी कहानियों में समाहित है. कहानी गढ़ने के क्रम में जीवन क्रम से संदर्भित कई सूत्र वाक्य स्वतः उपज उठते हैं. कुछ उदाहरण देखिए : जो अपना है, सो शोक योग्य, जो नहीं है सो अखबार की ख़बर. - कोई भी अकेला होकर हंस नहीं सकता. - जंगल ठसकी पग ध्वनि से भर उठा था. - प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समायें ! - अब वर्ल्ड इन्टरनेट और साझाबाजार की वज़ह से बहुत छोटा हो गया है, इसलिए करप्शन, पॉल्यूशन, महंगाई, स्मगलिंग, प्रोस्टीट्यूशन, टेररिज्म, किडनैपिंग वगैरह बहुत आम बातें हैं, सारे मुल्कों के लिए. - काम मनुष्य की दूसरी कुंठा का नाम है मथना ! मनुष्य की पहली कुंठा का नाम है अर्थ, जिसको मिटाकर वह दूसरी मिटाना चाहता है. तब तीसरी कुंठा जन्मती है -सृजन. लेकिन यह तीसरी कुंठा उसे बांध लेती है. तय कर देती है उसकी छलांग, दौड़ और होड़ ! और वह समाज के नाम के अदृश्य मदारी का बंदर बनकर रह जाता है उम्र भर के लिए. - पक्षी हजारों मील से समुंदर लांघकर आते हैं यहां. यहां कुछ ऐसा है, जो कहीं नहीं है. लेकिन फिर एक दिन न चाहते हुए भी वापसी होती है उनकी ... आज मुझे समझ में आ रहा है कि अपनी धरती परायी कैसे हो जाती है ? ये धरती आकाश और संपदा किसी की नहीं होती, मिस. एक-न-एक दिन सभी को सारा कुछ छोड़कर जाना पड़ता है . मेरी संपदा - औरत की अस्मत और नागरिक अधिकार इस देश के राजा ने लूट लिये हैं. एक अविवाहित लड़की का इस समाज में स्वतंत्र होकर अकेले रहना संभव नहीं है. जब तक आत्मनिर्भर स्त्रियां और स्वतंत्र माताएं अस्तित्व में नहीं आयेंगी, तब तक महान संतान जन्म नहीं लेगी. जिसके अभाव में हंसती हुई मनुष्यता कभी पैदा नहीं होगी संसार में.

वह कौन सी कुंठा थी जिसने तुम्हारे भीतर ऐसी विकृति उपजा दी ! कि कहां तो आप देवी भगवती होकर अखंड तप में लीन हुई, आजन्म कौमार्य व्रत की ठन-ठने रखे थीं ! और कहां ये हश्र, कि पतिव्रता धर्म का पालन भी न कर सकी... ! - जनमतेई मरी जऊतीं तो तनिकऊ दुःख ना लागत. ईसुर ऐसी औलाद से निपूती भली तीं. दोउ कल बोर दीन्ह तुम तो रंडो, दोउ कुल बोर दीन्ह... ! आहा ! कैसो मोटल आदमी रहो शहजाद सिंह, ऊ की ज़िंदगी खारकर दीन्ह ई बिटीना ! - किसी पुरुष वध का दंड नहीं है यह ! यह तो स्त्री जति की जातीय ज़िंदगी को तुम पुरुषों द्वारा नचाये जाने की सजा है. प्रेम में जब तक वासना का रंग नहीं घुलता तभी तक पारदर्शी रह पाता है. फिर तो धुंधला जाता है यह शीशा भी ! - जनता का राज्य, जनता के द्वारा, जनता के लिए की जगह अपराधियों का राज्य, अपराधियों के द्वारा, अपराधियों के लिए रह गया तो भले आदमियों ने उसकी ओर से अपना मुंह फेर लिया. धूल ही झोंकनी है जन समुदाय की आखों में तो दोनों हाथ झोकेंगे. पैसे वालों की ज़िंदगी में ही उनकी मोहब्बत परवान चढ़ती है. वहां नर्म गद्दों पर मौसम सदैव वातानुकूलित होता है. वहां कहकहे, सुरूर, मस्तियां और तीन सौ छियासठ दिन वाला साल तथा एक सौ सालों वाली औसत जिंदगियां होती है. हम समझ रहे हैं - तूने अभी तलक आदमी का स्वाद नहीं चख पाया ! ... कैसा होता है - खट्टा, मीठ, नुनखरा... क्या बतायेगी ऊपर जाके ? ये भोग भूमि है, यहां नहीं भोगा तो कहां भोगेगी ! अय मेरे मौला रंडी का जनम दे किसी को... ज़िंदगी मैला धोते-धोते कट जाती है. एक पेट भरने, तन ढंकने की खातिर कितनी खट्टी डकारें, शराब से भभकती सांसें और अनचाहा बोझ झेलना पड़ता है. ऐसी दुर्गति तो गधों की भी नहीं होती, जो हरदम लदे रहते हैं और सुअरों की भी नहीं, जो पालतू होकर भी परिवार के कारज में हलाल कर दिये जाते हैं. ए-खुदा मेरे जिगर के टुकड़े को इस दल-दल से बचाना. इसे इज्जत की रोटी बख्शना मेरे मौला.

उपरोक्त सारे वृतांत बारहों कहानियों से निकालकर हमने आपके समक्ष रख दिये हैं. इनका सही और मीठा स्वाद आपको तभी प्राप्त होगा, जब आप 'वामा' संग्रह की कहानियां पढ़ पायेंगे. दो कहानियों के शीर्षकों का उल्लेख हो गया है, शेष शीर्षक हैं : 'मुलाकत', 'दूसरे छोर पर', 'बाढ़ की वापसी', 'खराब लड़की', 'बालू', 'देवी', 'मर्द', 'छूत', 'तबाही'. किसी एक कहानी को संग्रह की उपलब्धि की परिधि में रखना हमें उचित नहीं लग रहा है. सभी कहानियां अपने परिवेश व विषय के साथ अद्‌भुत नैरेशन की वज़ह से सार्थकता को छूती हुई आगे बढ़ती हैं. मगर उद्घाटित कहानियों के दृश्य, पुरुष की आंखों की आंतरिक शांति की लालसा ही प्रगट करते हैं. मैत्रेयी पुष्पा, लवलीन, जया जादवानी, मधु कांकरिया जैसी कथाकारों की तरह अति आधुनिक स्त्रियों की अथक भाग दौड़ और नये परिवर्तनों को 'वामा' संग्रह में ढूंढ़ना निरर्थक ही होगा. 'वामा' संग्रह यह संकेत देता है कि मध्यमवर्गीय, ग्रामीण परिवेश की स्त्रियां भी घूंघट में बंध कर नहीं रह सकतीं. उन्हें भी मुक्ताकाश चहिए. यदि आप दे रहे हैं तो ठीक है, नहीं तो वे स्वयं समर्थ हैं ! 'वामा' संग्रह एक आश्वस्ति प्रदान करता है. कहानी का प्रकाशन अपने आप में एक रहस्यवाद है, और कहानी संग्रह का प्रकाशन अति रहस्यवाद की परिधि में आता है. तमाम विसंगतियों के बावजूद जब कहानी संग्रह येन-केन प्रकारेण प्रकाशित होकर आ जाता है, तो दो तरह के समीक्षक पैदा हो जाते हैं. एक वर्ग काटने-पीटने-समझने की प्रक्रिया में सक्रिय हो जाता है. दूसरा उसे आगे बढ़ाने, पीठ ठोंकने और उत्साहवर्द्धन में सक्रिय हो जाता है. दोनों तरह से जो द्वंद्व-युद्ध उत्पन्न होता है

उसका आनंद ए. असफल भी चखेंगे.

कहानी संग्रहों में फ्लैप पर जो प्रचलन की दृष्टि से लिखा रहता है उसके लिखने वाले कौन होते हैं ? इसका उल्लेख इसमें नहीं किया गया है जिस वज़ह से यह लगता है कि कहीं लेखक स्वयं ही सब कुछ का बयान तो नहीं कर रहा है. अतः किसी भी संग्रह को प्रकाशित करने वाले प्रकाशकों से आग्रह है कि ये उस भ्रम को और प्रसारित न करें. 'वामा' के फ्लैप पर लिखा है ..."समकालीन कहानीकारों में ए. असफल एक ऐसे कहानीकार के रूप में जाने जाते हैं जिनकी लेखन शैली; कहानियों का अनुभव संसार तथा भाषाई सौंदर्यबोध विशिष्ट छाप छोड़ता है. मानवीय संबंधों को लेकर जो व्याकुलता, चिंता तथा लगाव उनकी कहानियों में है वह आज के बहुआयामी रूपों से भी संबद्ध हैं, जो स्त्री के शील, सतीत्व, प्रेम, करुणा, दया, ममता, समर्पण, संघर्ष तथा संबंधों के प्रति प्रतिबद्धता आदि गुणों को रेखांकित करती हैं. जैसे-जैसे इन कहानियों का संसार हमारे सामने खुलता जाता है वैसे-वैसे कहानीकार का भावबोध तथा दृष्टि संपन्नता भी खुलती जाती है. ए. असफल की कहानियों के पात्र ज़िंदगी से सीधे सरोकार रखते हैं. इन कहानियों में बौद्धिकता का बोझ नहीं है. ये दार्शनिकता से बंधी कहानियां न होकर भी जीवन दर्शन की भीतरी तहों को खोलने वाली कहानियां है. कुछ कहानियों में आंचलिकता की मिठास बरबस ही मन को छू लेती है. भाषा में आंचलिक शब्दों का प्रयोग उस पूरे परिवेश को सजीव बना देता है."... इस कथन से पूरा संग्रह गंभीर भाव-भंगिमा से पढ़ पाने के कारण मैं सहर्ष सहमत हूं.

ए. १३/६८ भगतपुरी,
प्रह्लादघाट, वाराणसी-२२१००१

सामाजिक मूल्यों पर आधारित दोहे

डॉ. विद्या शुक्ला

सामाजिक बदलाव (दोहे) : ए. बी. सिंह
प्रकाशक : रेखा प्रकाशन, ए-१, कैलाश नगर, निम्बाहेड़ा, चित्तौड़गढ़ - ३१२६१७ (राज.) ***मूल्य*** : १९५ रु.

श्री ए. बी. सिंह से अब हिंदी साहित्य के पाठक भलीभांति परिचित हो चुके हैं. मानवता, नैतिकता और श्रम शक्ति पर अटल विश्वास रखने वाले विद्वान साहित्यकार ने अपनी रचनाओं का आधार भी इन्हें ही बनाया है. श्री सिंह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने अपने विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए दोहा छंद का चयन किया है. अभी तक आपकी लगभग ३ दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं. ये सभी पुस्तकें छंद में हैं.

श्री सिंह की नवीनतम कृति है - 'सामाजिक बदलाव.' इसमें सात सौ अड़तीस दोहे हैं तथा इन्हें २५ विषयों में विभाजित किया गया है. संतोषी सदा सुखी, आशावादी बन मेहनत करें, आजादी की मशाल, सफलता आनंददायी, व्यक्तित्व विकास, आत्मविश्वास बढ़ाना आदि.

कवि को भारतीय मूल्यों पर असीम विश्वास है. वह सत्य, अहिंसा, श्रम, शिक्षा, सदभावना, कर्म आदि को मानव की सफलता और उसके विकास के लिए आवश्यक मानता है, किंतु वह रूढ़िवादी न होकर परिवर्तन का पक्षधर है. उसका मानना है कि -

समय देख करता रहे, जब कोई बदलाव ।
अच्छा पड़े समाज में, उसका सदा प्रभाव ।।

एक कहावत है - समय ही धन है. कवि को इस पर पूरा विश्वास है. उसका मानना है कि यदि तुम समय को नष्ट करोगे तो समय तुम्हें नष्ट कर देगा. समय को व्यर्थ में बरबाद नहीं करना चाहिए. बल्कि उसका सदुपयोग करते हुए प्रगति पथ पर निरंतर आगे बढ़ते रहना चाहिए -

काम करो बढ़ते रहो, यही समय का सार ।
किसी तरह अपना समय, नहीं करो बेकार ।।

मानव की शक्तियां असीमित होती हैं. जब वह आगे बढ़ता है तो उसे सफलताएं भी मिलती हैं और असफलताएं भी. किंतु कभी कभी दुर्भाग्य से केवल असफलताएं ही हाथ आती हैं. पर मानव मानव है. वह सरलता से अपनी हार स्वीकार नहीं करता और निरंतर प्रयासरत रहता है -

आसानी से आदमी नहीं मानता हार ।
सह कर के तूफान भी करता सागर पार ।।

सहृदय कवि ने मानव को उसके विकास के लिए जहां एक ओर कर्म, भक्ति और ज्ञान के मार्ग पर चलने का संदेश देकर उसका मार्गदर्शन किया है, वहीं दूसरी ओर अभिमान जैसे दुर्गुणों से दूर रहने की बात भी कही है. अभिमान व्यक्ति की प्रगति में बाधक है ही इसके साथ ही यह व्यक्ति की, व्यक्ति से दूरी भी बढ़ा देता है. यही कारण है कि कवि ने अभिमान की अकड़ की तुलना मृत व्यक्ति के शरीर की अकड़न से की है. हिंदी साहित्य में इस प्रकार के अभिनव प्रयोग बहुत कम ही देखने को मिलते हैं -

अकड़ गया जो आदमी, समझो है अभिमान ।
अकड़न आती मृत्यु से, वह हो मरे समान ।।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ए. बी. सिंह की पुस्तक 'सामाजिक बदलाव' उच्च नैतिक मूल्यों से युक्त एक उपयोगी पुस्तक है. इसकी भाषा अत्यंत सरल और प्रवाहपूर्ण है, अतः सामान्य शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी इसे सरलता से पढ़ सकता है और इससे मार्गदर्शन प्राप्त करके अपने जीवन को एक नयी दिशा प्रदान कर सकता है.

१००, पंचशील नगर, सिविल लाइन्स,
दतिया-४७५ ६६१ (म. प्र.)

अपवाद

✍ डॉ. संत कुमार टंडन 'रसिक'

लोग कहते हैं -
प्यासा कुएं के पास जाता है
कुआं प्यासे के पास नहीं.
मैं अपवाद हूं,
वह कुआं हूं
जो प्यासों के पास जाता रहा,
वे अपनी प्यास बुझाकर
मुड़ गये,
उपकार नहीं माना
कोई बात नहीं
मैं खाली तो नहीं हुआ
उतना ही भरा का भरा हूं.
बल्कि, सच तो यह है
आप देख रहे हैं न
मेरे पानी का स्तर
और अधिक ऊंचा हुआ है
मैं कहीं से ठगा हुआ नहीं हूं.

६३५/१-आर, मीरापुर, इलाहाबाद-२११ ००३

आदमी मरता क्यों है ?

✍ लालजी राकेश

भूख, हमारी आस्था को लील रही है
स्वार्थ, श्रद्धा सुमन को रौंद रहा है
बर्बरता की मानवता पर बंदिश है.
तब भी मैं घायल हंस को देखकर
आहत हुआ था,
मैंने भी तो
किसी शवयात्रा को देखकर
शुभ का प्रतीक नहीं माना,
मेरे अंतस में भी बार-बार उठता रहा
एक जटिल प्रश्न
"आदमी मरता क्यों है ?"
मैं भी तो छोड़ आया हूं
राहुल और यशोधरा को भाग्य के सहारे.
बोधिवृक्ष पर
आज भी मेरे सवाल चमगादड़ बनकर
लटक रहे हैं,
शायद मेरे अंदर का आदमी मर गया है.

एस.ई./२१३ छ. रा. वि. म. कॉलोनी,
कोरबा (पू.) ४९५ ६७७ (छ. ग.)

वर्षों से

✍ महेश कटारे 'सुगम'

वर्षों से
खांस रहे हैं पिता
हांफ रही है मां,
मैं खुली आंखों
पी रहा हूं
पिता की खुल्ल खुल्ल
मां की धौंकनी,

वर्षों से
देख रहा हूं
पत्नी की फटी साड़ी
बच्चे की पैबंद लगी पैंट
जवान होती बेटी,

वर्षों से प्रयासरत हूं
ज़िंदगी को नये सिरे से बुनूं,
काढ़ूं उसमें
बेल बूटों वाली कढ़ाई
बनाऊं चारों ओर
रंग बिरंगी पट्टी,
लेकिन
भूल जाता हूं हर बार
बेल बूटों की ज़गह
उग आते हैं
बेतरतीब कांटे,
फिर उधेड़ने,
फिर बुनने में
कट रही है मेरी
बेशकीमती उम्र
वर्षों से ...

प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, कुरवाई, विदिशा-४६४ २२४ (म. प्र)

ग़ज़लें

✍ मनोज अबोध

कितनी दूर चला आया मैं जीवन का बनवास लिये,
लेकिन मन पागल है अब तक मिलने की ही आस लिये.
दरिया-दरिया, बस्ती-बस्ती, जंगल-जंगल घूमा हूं,
एक समंदर सूख गया है मुझमें जलती प्यास लिये.
कोई एक मधुर-सा मौसम अपने आंगन बो लेना,
द्वारे-द्वारे भटका हूं मैं, एक यही अरदास लिये.
एक नदी मिलने को आतुर, आते-आते सूख गयी,
कितने सहरा देख चुका हूं, आंखों में मधुमास लिये.
तृष्णा की बंजर धरती पर, सूरज बोकर लौटा हूं,
शायद कोई चांद उगे कल, यादों का अहसास लिये.
वादों पर विश्वास है लेकिन, आकर पल-भर देखो तो,
कितना जी पाऊंगा आख़िर, उखड़ी-उखड़ी सांस लिये.

आंसू छुपा के आंख में हंसकर मिला मुझे,
इक शख़्स जो कि राह में अक्सर मिला मुझे.
वो दोस्त था यक़ीन ये आया मुझे तभी,
जब उसकी आस्तीन में खंज़र मिला मुझे.
अपनी दहकती प्यास की चर्चा करूं कहां,
लेकर युगों की प्यास समंदर मिला मुझे.
जिस दर्द से मैं भाग के आया था इस तरफ़,
वो दर्द आज बनके मुकद्दर मिला मुझे.
जब हो चुका था फ़ैसला भी हार-जीत का,
तब दौड़ने का ट्रैक पे अवसर मिला मुझे.
सागर कई खंगाल के देखे नसीब के,
तब जाके मेरे नाम का गौहर मिला मुझे.

✉ सरस्वती मार्ग, बिजनौर २४६ ७०१ (उ. प्र.)

डूब के आंसू के सागर में

✍ चकेश 'चक्र'

डूब के आंसू के सागर में, हमने हंसना सीख लिया,
कुंदन जैसा, मुश्किलात में, हमने तपना सीख लिया ।
लोगों का तो काम है कहना, कुछ भी कहते रहते हैं,
इनसे हटकर, अपनी रौ में, हमने चलना सीख लिया ।
मुझे कहो यूं मूर्ख भले तुम, पर मेरी मज़बूरी थी,
औरों को छलने से पहले, खुद को छलना सीख लिया ।
शांत चित्त, संतोष, आत्मसुख की दौलत मैंने पायी,
इच्छाओं को जब से मैंने, स्वयं कुचलना सीख लिया ।
मिली बुराई सारे जग की, अपनों के भी बुरे बने,
सच को हर हालत में हमने, सच ही कहना सीख लिया ।
सुख का कारण हो या ना हो, सुख, दुख का भी कारण है,
लेकिन हमको कहां ख़बर थी, सुख ने छलना सीख लिया ।
यह विकास का क्रम था लेकिन बढ़ने की इच्छाएं थीं,
ठोकर खाकर गिरते-पड़ते, 'चक्र' संभलना सीख लिया ।

✉ १० शिवपुरी, मुरादाबाद २४४ ००१ (उ. प्र.)

लघुकथा

थावरी और थावरा

✍ महीपाल भूरिया

'थावरी खेत में कुछ नहीं पका. मैं जाता हूं सूरत. ईंटें बनाने. तू संभालना घर, जमीन, जानवर और भूखे बच्चे.' थावरा मेघनगर से देहरादून-मुंबई ट्रेन से सूरत पहुंचा. ईंटें बनाने वालों के साथ वह काम में जुट गया, दिन-रात. नौ तपा के दिन थे. ज्यादा ईंटें बना कर धन कमाने की लालच की धुन सवार हो गयी. थावरा, बिना बीड़ी-पानी पिये आराम किये, व नौ दिन तक ईंटें बनाता ही रहा कड़ी धूप में. एक दिन शाम हुई. वह लेटा. दिन भर की थकावट मिटाने. ज्यों ही लेटा, लगा किसी ने उसकी कमर तोड़ दी. मन, शरीर और पेट को मानो लकवा ही मार गया हो. उल्टी, दस्त और लू उसमें घर कर गये. खेतों में पास सोये लोग उसे उठाकर सूरत के एक सिविल अस्पताल में पटक आये. जब वह पांच दिन बाद लौटा, तन ने, ईंटें बनाने के लिए तनिक भी साथ नहीं दिया. फिर मुंबई-फिरोजपुर जनता पकड़ी. वहीं आया जहां से वह चला था याने मेघनगर. घर लौटा, अपने गांव छोटी गोसलिया. सवेरे देखा खेत के सेड़े के सात सागवान के सुंदर और सुडौल पेड़ कोई काट ले गया था. 'हाय ! थावरी', उसने अपने मन में कहा. धन कमाने की लालच में अगर सूरत नहीं जाता, तो सोने जैसे सुडौल सागवान के पेड़ नहीं कटते.

✉ मातृधाम, मेघनगर, झाबुआ-४५७ ७७१ (म. प्र.)

मूलमंत्र

✍ राकेश 'चक्र'

एक मंत्री जी राजकीय यात्रा पर जापान गये. उन्होंने जापान के बहुत से मनोरम स्थल देखे. एक दिन वे जापान के अधिकारियों के साथ टोकियो के एक खूबसूरत पार्क में घूम रहे थे तो वहां एक अवकाश प्राप्त कर्मचारी भी घूम रहा था. मंत्री जी के मन में जिज्ञासा हुई कि इस व्यक्ति से कुछ बात की जाये.

मंत्री जी बोले, "क्या आप अपने जीवन से पूर्णतः संतुष्ट हैं ?"

"हां ! मैं अपने जीवन से पूर्णतः संतुष्ट हूं लेकिन आज तक बस एक बात का दुःख भी होता है." कर्मचारी ने उत्तर दिया.

"वह कौन सा दुःख है आपको ?" मंत्री जी ने पूछा.

"मैं अपने जीवन में नौकरी करने के दौरान, चार बार में आठ मिनट फैक्टरी देर से पहुंचा."

मंत्री जी इस अवकाश प्राप्त कर्मचारी का दुःख सुनकर दांतों तले अंगुली दबा गये और जापान के विकास का मूलमंत्र समझ गये थे.

१० शिवपुरी, मुरादाबाद २४४ ००१ (उ. प्र.)

चक्का जाम

✍ डॉ. संत कुमार टंडन 'रसिक'

'हे भगवान !' नहीं बर्दाश्त हो रहा है यह दर्द, मेरी जान ले लेते तो अच्छा था. दोनों हाथों से अपने पेट को कसकर दबाये, छटपटाता, रोता हुआ, रिक्शे पर बैठा अधेड़ भोलू कराह उठा. उसकी पत्नी रामो उसे संभाले हुए थी.

भोलू के पेट में तेज दर्द सुबह ही उठा. घरेलू उपचारों से दर्द न थमा तो रामो पति को रिक्शे पर बैठा कर अस्पताल ले चली. भोलू की हालत गंभीर होती जा रही थी. अस्पताल घर से दो किलोमीटर दूर था. रास्ते में दर्द ने विकराल रूप ले लिया. बस, कैसे पहुंचें जल्दी से अस्पताल, पति-पत्नी बेचैन-परेशान थे.

अस्पताल जाने वाले मुख्य मार्ग पर अस्पताल से एक फर्लांग दूरी पर भारी भीड़ थी. सभा चल रही थी. पता चला 'अस्पताल बचाओ आंदोलन' चल रहा है, अस्पताल की दुर्व्यवस्था के विरुद्ध. आंदोलनकारियों ने चक्का-जाम कर रखा था. सड़क मार्ग आज अवरुद्ध था. आड़ी-तिरछी बांस-बल्लियां गड़ी और खाली ट्रक अड़ा रखे गये थे. मुश्किल से पैदल निकला जा सकता था. साइकिल, स्कूटर, रिक्शा, कार का जाना असंभव. आंदोलनकारी किसी को जाने नहीं दे रहे थे. पुलिस भी भारी संख्या में तैनात थी. लोगों को आगे जाने से रोक रही थी. हिंसक उपद्रव की आशंका भी थी. दूसरा कोई रास्ता नहीं जिससे हो कर भोलू जा सके अस्पताल. रामो ने लोगों से, पुलिस वालों से, बहुत अनुनय-विनय की कि उसके रिक्शे को अस्पताल जाने दें क्योंकि पति मरणासन्न हो रहा है. उसके रोने-धोने का भी कोई असर न हुआ. एक मरीज की जान बचाने के प्रति भी सब लापरवाह थे. सबको 'अस्पताल बचाओ' की फिक्र थी, 'मरीज बचाओ' की नहीं जो सड़क पर तड़प रहा था, अस्पताल नहीं पहुंच पा रहा था. सबको आंदोलन की सफलता की फिक्र थी, मरते हुए भोलू की नहीं.

भोलू रिक्शे पर तड़पता-छटपटाता रहा. वहीं उसे घंटा भर बीत गया. अचानक एक भीषण कराह के बाद उसने वहीं दम तोड़ दिया. रामो उसके मृत शरीर पर दहाड़ मार-मार रोती रही. तब भी जाम लगाये आंदोलनकारियों का ध्यान उधर न गया.

रामो का रिक्शा पति की लाश लिये घर की ओर वापस लौट चला.

५३५/१-आर, मीरापुर, इलाहाबाद - २११००३

ग़ज़ल

✍ मुकेश शर्मा

दीवार में से रास्ते तैयार कीजिए,
इसके लिए प्रयास बार-बार कीजिए.
आते हुए खंजर को देख सीने ने कहा,
जो कुछ भी है यहां, वही स्वीकार कीजिए.
तालाब से प्यासी किसी मछली ने कह दिया,
अब तो ज़रा कुछ मुझ पे भी उपकार कीजिए.
रगड़ो तो जला सकती है ये सारे शहर को,
ज़्यादा नहीं माचिस पे ऐतबार कीजिए.
पांवों तले दबी हुई माटी ने पुकारा,
आना तो है यहीं, न तिरस्कार कीजिए.

१२३२, लक्ष्मण विहार फेज दो,
धनवापुर रोड , गुड़गांव-१२२००१ (हरि.)

✻ अभिनंदन ✻

"कथाबिंब" के संपादन सहयोगी श्री प्रबोध कुमार गोविल को महाराष्ट्र दलित साहित्य अकादमी के प्रेमचंद सम्मान-२००३ व अखिल भारतीय सम्मेलन में राष्ट्रभाषा संरक्षण सम्मान-२००३से सम्मानित किया गया है. उन्हें "कथाबिंब" परिवार की ओर से बधाई.

- संपादिका

लेटर बॉक्स

❀ मुझे उत्कृष्ट कथा साहित्य पढ़ने में विशेष रुचि है. जनवरी-जून ०३ अंक मुझे बेहद पसंद आया. मित्र मंडली में भी काफी सराहा गया. अंक की किसी एक या दो कहानियों की प्रशंसा करना अन्य कहानियों के साथ अन्याय होगा. अंक की प्रत्येक कहानी पठनीय एवं विस्मरणीय है. पूरा अंक पढ़कर मैं अपने को पत्र लिखने से रोक नहीं पाया.

मैं हर बार पहली नज़र में सर्वप्रथम 'कही अनकही कुछ अनकही' स्तंभ पढ़ता हूं. आपने संपादकीय में बेबाक टिप्पणी कर अपने साहस का परिचय दिया है. इसके लिए साधुवाद.

ईश्वर से कामना है कि आप और आपकी पत्रिका "कथाबिंब" चिरजीवी बनी रहे.

✤ **महावीर सिंह चौहान**
जमालपुर किरत, बिजनौर (उ. प्र.)

❀ "कथाबिंब" जनवरी-जून ०३ का संयुक्तांक मिला. पत्रिका में समाहित कहानियों में राजीव सिंह की कहानी 'चंद्र-ग्रहण,' सुधीर अग्निहोत्री की 'रावलपिंडी एक्सप्रेस' रोचक तथा मानव-सच को उघाड़ती-सी लगीं. उत्तम कांबले की मराठी कहानी 'मनी-ऑर्डर' भी मार्मिक, हृदयस्पर्शी तथा हमारी संवेदनशीलता को उभारती सी लगी. रामनाथ शिवेंद्र की 'नामांतरण' शीर्षक कहानी तो तथाकथित साहित्यकारों के कारनामों को बिल्कुल खोलकर रख देती है. 'लघुकथाएं' भी अच्छी बन पड़ी हैं. 'आमने-सामने' व 'सागर-सीपी' स्तंभ तो पूर्व की भांति श्रेष्ठ हैं ही. कविताओं में कृष्ण सुकुमार की ग़ज़ल विशेष रूप से पसंद आयी. 'पुस्तक-समीक्षा' स्तंभ के फिर क्या कहने !

✤ **सतीश तिवारी 'सरस'**
मु. पो.-मोहद (करेली),
जिला. नरसिंहपुर-४८७ २२९ (म. प्र.)

❀ "कथाबिंब" का जनवरी-जून ०३ मिला है. अभी पत्रिका पूरी पढ़ नहीं पाया हूं. 'संपादकीय' अच्छा है. 'शेष' के संपादक श्री हसन जमाल का विवाद समझ में नहीं आया. 'शेष' के एक-दो अंक मैंने देखे हैं. प्रसंगवश जानना चाहता हूं कि श्री हसन जमाल क्या वही व्यक्ति हैं जो लगभग तीन-साढ़े तीन दशक पहले दिल्ली प्रेस की 'सरिता' में हसन जमाल छीपा के नाम से कहानियां/ उपन्यास लिखा करते थे ? यदि जानकारी हो तो कृपया अवगत करायेंगे.

'कथाबिंब' का अपना स्थान है. कामना है कि पत्रिका अनवरुद्ध प्रकाशित होती रहे.

✤ **डॉ. रामधारी सिंह दिवाकर**
निदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-८०० ००४.

(कुछ और प्रतिक्रियाएं ....पृष्ठ ३ के आगे)

❀ "कथाबिंब" का जनवरी-जून ०३ अंक मिला. कहानियों में सुधीर अग्निहोत्री की 'रावलपिंडी एक्सप्रेस' और उत्तम कांबले की 'मनी ऑर्डर' और उर्मिल गुप्ता की 'गुलदस्ते' बहुत भावपूर्ण कहानियां हैं. मन को छूती ही नहीं हैं ये कहानियां मन को झकझोरती भी हैं. मनी ऑर्डर कहानी आज की विषम समझ और मां-पिता की गहरी और खामोश अनुभूतियों की अहसासों की कहानी है. कांबले साहब को अंतःमन की भावुक बधाई.

'कुछ कही, कुछ अनकही' से पता चला कि 'शेष' संपादक हसन जमाल साहब का नजरिया ठीक नहीं. इस प्रसंग को छापकर आपने संकुचित बुद्धिजीवियों का असली चेहरा नंगा कर दिया है. क्रांति येवतीकर का कथन 'चेहरे, जब हो जाते हैं नंगे, देखे नहीं जाते.' सच ही है. आपका लेख 'भारत में भारत को खोजिए' एक सच्चे और गंभीर चिंतन से ओत प्रोत है. काश ! यदि ऐसा हो जाये तो भारत का नक्शा ही बदल जाये.

✤ **सतीश गुप्ता**
के-२२१, यशोदा नगर, कानपुर-२०८ ०११

❀ जनवरी-जून ०३ के "कथाबिंब" में 'बेस्ट बेकरी कांड' पर 'मानवाधिकार आयोग' के बारे में आपने जो लताड़ लगायी, वह प्रशंसनीय है. ऐसा लगता है मानो 'मानवाधिकार आयोग' 'मानव' मात्र के लिए नहीं, वरन् सिर्फ 'अल्पसंख्यकों' के लिए ही बना है. पक्के सबूतों के अभाव में गुजरात तो क्या देश का कोई भी न्यायालय किसी को सजा नहीं दे सकता है और यही गुजरात में हुआ तो बवाल मच गया. आनन-फानन में 'मानवाधिकार आयोग' ने इस फैसले के खिलाफ टिप्पणी कर यह सिद्ध कर दिया कि वह मानव मात्र के लिए नहीं वरन् 'अल्पसंख्यकों के हितों' के लिए ही बना है. यहां इस बात को रेखांकित किये जाने की आवश्यकता है कि अहमदाबाद के डाबगरवाद में अग्निकांड की दुबारा जांच की मांग क्यों नहीं की, जबकि इस अग्निकांड में आठ हिंदुओं की जलकर मौत हो गयी थी. इस कांड को अंजाम देने वाले सभी मुस्लिम आरोपियों को अदालत ने ससम्मान रिहा कर दिया था, तब 'मानवाधिकार आयोग' कहां था ? १९८४ के दंगों में हजारों की संख्या में सिख मारे गये थे, हालांकि उस समय मानवाधिकार आयोग का गठन नहीं हुआ था, परंतु इस आयोग की पैरवी करने वालों ने १९८४ के दंगों की जांच के लिए आवाज क्यों नहीं उठायी ? 'बेस्ट बेकरी कांड', उससे जुड़े लोग सिर्फ 'वोट बैंक' के लिए इतना बवाल मचा रहे हैं ताकि अल्पसंख्यकों को लगे कि 'ऐसे लोग' हमारे अपने हैं, जबकि ऐसे लोग 'मानवता' के सबसे बड़े दुश्मन हैं.

✤ **देवेंद्र गो. होलकर**
१८८/ए, सुदामा नगर (अन्नपूर्णा सेक्टर), इंदौर-४५२ ००९

❀ "कथाबिंब" का जन.-जून ०३ अंक प्राप्त हुआ. इस अंक में 'रेखा सक्सेना स्मृति' पुरस्कारों की भी घोषणा हुई है. पिछले किसी अंक में मेरी प्रकाशित कहानी को भी चुना गया है, यह जानकर प्रसन्नता हुई. यह मेरे लिए सर्वथा नया अनुभव है, चूंकि रचना किसी प्रतियोगिता हेतु प्रेषित नहीं की गयी थी, फिर भी पुरस्कार की श्रेणी में आयी. जहां एक ओर प्रथानुसार पुरस्कारों के निर्णयों के प्रति नाक-भौं सिकोड़ी जाती है, वहीं आपके ऐसे आयोजन द्वारा लेखक-पाठक एवं अन्य सुखद अनुभव करेंगे, क्योंकि ऐसे में रचना का मूल्यांकन पाठक-निर्णायक, अपनी ग्राह्य शक्ति द्वारा देंगे न कि लेखक को व्यक्तिगत रुप में जानने के द्वारा. आपके ऐसे आयोजन का साहित्य जगत में विशिष्ट स्वागत किया जाना चाहिए ताकि, मठाधीशों की सोच पर अंकुश लग सके.

रचनाओं के प्रति आपकी यह विशिष्ट सोच आपको एवं पत्रिका को एक अलग पहचान तो देगी ही तथा साहित्य के प्रति आपके इस समर्पण को पाठक एवं लेखक अवश्य सराहेंगे. आपके प्रयत्नों के अंतर्गत जिन सभी पाठकों ने मेरी कहानी को निष्पक्ष रुप में अंकों के मानकों पर उतारा, उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं, किसी भी लेखक के लिए पाठकों का इस प्रकार का निर्णय ही एक सुखद पुरस्कार है. ऐसे अनूठे आयोजन का एक बड़ा श्रेय संपादक के साथ-साथ इसके प्रवर्तक श्री उमेश चंद्र सक्सेना को भी जाता है, इसके लिए मैं आप सभों का हृदय से धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूं.

पत्रिका का प्रकाशन एवं इस प्रकार के निष्पक्ष आयोजन भविष्य में भी फलीभूत होंगे, ताकि नये से नये रचनाकारों को भी इसमें भागी होने का अवसर मिल सके, इसकी मैं कामना करता हूं.

✤ राजीव सिंह
बी ए-४५, शालीमार बाग, दिल्ली-११० ०८८

❀ जनवरी-जून का अंक प्राप्त हुआ. कहानी 'रावलपिंडी एक्सप्रेस' पढ़कर तो ऐसा लगा कि इससे अच्छा तो लिखना मुश्किल है. एक एक शब्द सटीक और कहानी का अंत तो बहुत ही अच्छा है. लेखक ने जातिगत व धार्मिक उन्माद को सचित्र उतार दिया है, शब्दों में. उनसे बधाई कहें. कहानी 'मनी ऑर्डर' बहुत मर्मस्पर्शी रही, सूखते और बर्फ होते रिश्तों की गाथा ...अंदर तक महसूस होता कुछ.

'सागर-सीपी', 'आमने-सामने', 'कुछ कही, कुछ अनकही', सभी कुछ अच्छा. पत्रिका की गरिमा को सही मार्ग देता. मगर कहीं कुछ छूट रहा है, कविता, गीत के स्तर पर ध्यान दीजिए.

✤ माधवी कपूर
रेलविहार, के ६०४ सेक्टर-४, खारघर, नवी मुंबई-४१० २१०

❀ "कथाबिंब" का जनवरी-जून ०३ मिला. 'भारत में भारत को खोजिए : बनाम विकसित भारत का ब्लू प्रिंट' आलेख अच्छा लगा. भारत जैसे विकासशील देश के लिए यह परिकल्पना सार्थक सिद्ध हो सकती है. यहां के गांवों, प्राकृतिक साधनों, मानव संसाधन एवं भौगोलिक स्थितियों पर आधारित यह विकास मॉडल हमें आत्मनिर्भर बना सकता है. विदेशी सहायता की ओर याचनाभरी आंखों से देखने से मुक्ति दिला सकता है. तब शायद हम कह सकें, हमारा यह रास्ता अपना है. हम किसी के मोहताज नहीं.

कहानियां भी अच्छी रहीं.

✤ सुरेश कांटक
कांट (ब्रह्मपुर),
बक्सर-८०२ ११२ (बिहार)

❀ "कथाबिंब" के जनवरी-जून ०३ अंक में आपका लेख 'भारत में भारत को खोजिए' पढ़ने को मिला. मेरी राय में राष्ट्रभाषा के विकास हेतु हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में कथा-कहानी के साथ-साथ ऐसे शोधपरक लेखों को स्थान देने से पाठकों की ज्ञानवृद्धि के साथ ही हिंदी का भी विकास होगा. आपने ऐसा प्रयास किया इसके लिए आप बधाई के पात्र हैं.

✤ राजेंद्र परदेसी
बी-१११८ इंदिरा नगर, लखनऊ-२२६ ०१६

❀ ताजा अंक (जन.जून ०३) मिला. विशेष आलेख ने इस अंक को विशेष, दुर्लभ, संग्रहणीय बना दिया. आपके गहन अध्ययन, आवश्यकता की पैनी नज़र, ज्ञान, गंभीरता से प्रगट सशक्त विचारों का यह ऐतिहासिक आलेख है. इस आलेख पर चिंतन, मनन, नितांत ज़रुरी है. ऐसा होता है तो निश्चित ही अच्छे परिणाम सामने आयेंगे. सचमुच पूरी निष्ठा, देशप्रेम, वर्तमान हालातों, विज्ञान के ज्ञान व औचित्य को दर्शाता यह अनुपम आलेख है. आपने शाश्वत सत्य लिखा है कि 'अपनी आवश्यकताओं को सही ढंग से रेखांकित करते हुए हमें प्राथमिकताओं पर पुनः विचार करना होगा', वहीं यह बात कि हम ऐसे समाधान खोजें जो अन्य समस्याओं को जन्म न दें. इस आलेख ने 'कथाबिंब' के महत्व में चार चांद लगा दिये हैं. नमन आपको, आपके अद्‌भुत ज्ञान, सोच को नमन ! एक बात अन्य, यह कि 'रेखा सक्सेना स्मृति' पुरस्कार में प्रोत्साहन पुरस्कार में आप लघुकथाओं को भी लें. जिससे कहानी, लघुकथा दोनों ही विधाओं को प्रोत्साहन व ऊर्जा मिले. विश्वास है इस पर गंभीरता से सोच कर लघुकथाओं को भी जो वर्तमान की बेहद चर्चित विधा है सम्मान देंगे.

✤ रामशंकर चंचल
१४५, गोपाल कालोनी,
झाबुआ-४५७ ६६१ (म. प्र.)

ग़ज़लें

✍ सत्यदेव संविनेंद्र

हम कहानी फिर वही दोहरा रहे हैं,
कुर्सियों के काग जिनको गा रहे हैं.
आदमी का मोल है इतना ही बस,
अंगुलियों से नाप कर बतला रहे हैं.

फिर उछलने लग गये नारे हवा में,
वोट के मुद्दे उठाने आ रहे हैं.
सूखते ही जा रहे हैं कंठ सारे,
आदमी में आग वे सुलगा रहे हैं.
यह तमाशा है अजब इस दौर का,
घाव करके घाव को सहला रहे हैं.
मौन हैं आधी सदी से क्यों, कहो,
कौन हैं वे लोग जो बहला रहे हैं.

रेत से रिश्ते निभाना चाहते हैं आप तो,
आंख से ही थार को अब लीजिएगा नाप तो.
हैसियत की हर परीक्षा हो गयी हो तो सुनो,
खूब उबले हैं मगर बन जाइए मत भाप तो.
मुग्ध है यह भीड़ जो भी हो रहा है, देख कर,
आप भी सुन लीजिए अब कुर्सियों के जाप तो.
आम थे पर ख़ास होकर क्या किया है आपने,
इस सदी पर रह न जाये एक यह अभिशाप तो.
भोग कर के सात सुख भी चैन तो पाया नहीं,
खुद सुलग कर दो घड़ी सह लीजिए यह ताप तो.
हां, सुना है थार पसरा है बहुत ही दूर तक,
रेत पर कुछ पांव धरते छोड़िएगा छाप तो.

✉ श्री सदन, हिमावतों का वास, सोजत शहर - ३०६१०४ (राज.)

With Best Compliments from :

G. S. SAUHTA

Brentwood 302 B,
Hiranandani Gardens,
Powai, Mumbai - 400 076
Phone : 022- 2570 6040
Telefax : 022 - 2579 7207

: प्राप्ति - स्वीकृति :

सुरंग में सुबह (उपन्यास) : मिथिलेश्वर, भारतीय ज्ञानपीठ, १८ इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३. मू. १८०/-

जहां खिले है रक्त पलाश (उपन्यास) : राकेश कुमार सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११० ००२ मू. ३००/-

नवाभूम की रसकथा (उपन्यास) : सुषम बेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११० ००२ मू. २५०/-

अंधेरा जहां उजाला (उपन्यास) : सूर्यदीन यादव, भावना प्रकाशन, १०९-ए पटपड़गंज, दिल्ली-११० ०९१. मू. २५०/-

रंगशाला (उपन्यास) : सिम्मी हर्षिता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११० ००२ मू. १४०/-

सहारा किस किस का (कहानी संग्रह) : धर्मेंद्र गुप्त, आसेतु प्रकाशन, २७४ राजधानी एन्क्लेव, रोड नं. ४४, शकूर बस्ती, दिल्ली-११० ०३४. मू. १००/-

सवाल तथा अन्य कहानियां (क. सं.) : सुभाषचंद्र गांगुली, अनुभूति प्रकाशन, ५३ करनपुर, प्रयाग, इलाहाबाद-२११ ००२ मू. १००/-

का करूं सजनी (क. सं.) : डॉ. साधना शुक्ला, आर्यन प्रकाशन, १३२/२ काग़ज़ भवन, गली बताशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११० ००६ मू. १२५/-

रेतग़ार (उपन्यास) : संतोष गोयल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११० ००२. मू. १२०/-

मां तुम कविता नहीं हो (क. सं.) : विभु कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २/३५ अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११० ००२ मू. १००/-

एकै पवन एक ही पानी (क. सं.) : सं. रेखा द्विवेदी, राष्ट्रीय सांप्रदायिक सदभाव प्रतिष्ठान, ९वां तल, 'सी' विंग, लोकनायक भवन, खान मार्केट, नयी दिल्ली-११० ००३ मू. ३००/-

सबसे बड़ा सच (क. सं.) : डॉ. अज़रा नूर, अंकुर प्रकाशन, १३ पीपलेश्वर महादेव की गली, नाइयों की तलाई, उदयपुर-३१३ ००१ मू. १५०/-

अभिमन्यु की जीत (ल. सं.) : राजेंद्र वर्मा, आशा प्रकाशन, ३/२९ विकास नगर, लखनऊ-२२६ ०२२ मू. ३०/-

प्रेम के रिश्ते (गद्य) : अचलचंद जैन, गांधी मेहता प्रकाशन समिति, गांधी मुहत्तो की बास, सायला, जालोर (राज.) मू. ४५/-

शब्द इतिहास नहीं रचते (काव्य) : डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', लेखनी प्रकाशन, ६/२, हारुन नगर कॉलोनी, फुलवारी शरीफ, पटना ८०१ ५०५ मू. ४०/-

सामाजिक बदलाव (दोहे) : ए. बी. सिंह, रेखा प्रकाशन, ए-१, कैलाश नगर, निम्बाहेड़ा, चित्तौड़गढ़-३१२ ६१७ (राज.) मू. १९५/-

काली नदियां पीले लोग (ग़. सं.) : सलीम अख़्तर, प्रक्षेप प्रकाशन, टेंपल बाज़ार, सीताबर्डी, नागपुर-४४० ०१२. मू. १००/-

थोड़ा सा ईमान (ग़. सं.) : अशोक रावत, शब्दाकार प्रकाशन, २२२ मानस नगर, शाहगंज, आगरा-२८२ ०१० मू. ३०/-

दर्द के खेत में (ग़. सं.) : केशव शरण, प्रगीत प्रकाशन, एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी-२२१ ००२. मू. ७५/-

सिलसिले (का. सं.) : इंदिरा शबनम, ९/ब, मधुरवन अपार्टमेंट , ११०० शिवाजी नगर, मॉडेल कॉलोनी, पुणे-४११ ०१६. मू. ७५/-

तीसरी दुनिया के लिए (क. सं.) : डॉ. बरुण कुमार तिवारी, मीनाक्षी प्रकाशन, एमवी-३२, शकरपुर, नयी दिल्ली-११००९२. मू. ५०/-

जिधर खुला व्योम होता है (क. सं.) : केशव शरण, प्रगीत प्रकाशन, एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी-२२१ ००२. मू. १००/-

कड़ी धूप में (हाइकू) : केशव शरण, प्रगीत प्रकाशन, एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी-२२१ ००२. मू. ७५/-

---

'किरण देवी सराफ ट्रस्ट' (मुंबई) के सौजन्य से प्रकाशित पुस्तकें

सरस्वती और कृष्ण (का. सं.) : विजय कुमार भटनागर (मू. १००/-); बेज़ुबान क़लम (काव्य) : लालमनी विश्वकर्मा (मू. १००/-); कमो-बेश (का. सं.) : सं. अवनीश कुमार दीक्षित (मू. ५१/-); ठहरे लम्हे (ग़. सं.) : इनायत खान 'परदेसी' (मू. ९०/-); सीप के मोती (काव्य) : रास बिहारी पांडेय (मू. १००/-); अमृत-कलश (काव्य) : एस. के. बख़्तनाम (मू. १३५/-); बाज़ गश्त (काव्य) : मरयम 'ग़ज़ाला' (मू. १००/-); आईना शनासी (काव्य) : मरयम 'ग़ज़ाला' (मू. १००/-); दहलीज़ (काव्य) : अरविंद कुमार विश्वकर्मा (मू. ९५/-); संगम (बाल-बोध काव्य) : मंजु गुप्ता (मू. १२५/-); रोशनी (नाटक) : आफ़ताब हसनैन (मू. ७५/-).

हमारे आजीवन सदस्य

१) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
२) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
३) स्वामी विवेकानंद हाई स्कूल, कुर्ला, मुंबई
४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, मुंबई
५) डॉ. ए. वेणुगोपाल, मुंबई
६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
१०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, मुंबई
११) श्री अमर ठकुर, मुंबई
१२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
१३) श्री संतोष कुमार अवस्थी, बड़ौदा
१४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
१५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
१६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
१७) श्री अशोक आंद्रे, पंचमढ़ी
१८) श्री कमलेश भट्ट 'कमल', मथुरा
१९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
२०) श्री कुशेश्वर, कलकत्ता
२१) सुश्री कनकलता, धनबाद
२२) श्री भूपेंद्र शेठ 'नीलम', जामनगर
२३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
२४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
२५) सुश्री रिफ़अत शाहीन, गोरखपुर
२६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, अनपरा, सोनभद्र
२७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
२८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
२९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, नवी मुंबई
३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह बिष्ट, 'बटरोही,' नैनीताल
३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
४०) श्री दिनेश पाठक 'शशि', मथुरा
४१) श्री प्रकाश श्रीवास्तव, वाराणसी
४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, उज्जैन
४३) श्री जसवंत सिंह बिरदी, जालंधर
४४) प्रधानाध्यापक, 'ब्लू बेल' स्कूल, फतेहगढ़
४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
४८) श्रीमती विनीता चौहान, नवी मुंबई
४९) श्री सदाशिव 'कौतुक', इंदौर
५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छावड़ा, औरंगाबाद
५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
५६) श्रीमती संगीता आनंद, रांची
५७) श्री मनोहर लाल टाली, मुंबई
५८) श्री एन. एम. सिघानिया, मुंबई
५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
६०) डॉ. ज. वी. यख्मी, मुंबई
६१) डॉ. अजय शर्मा, जालंधर
६२) श्री राजेंद्र प्रसाद 'मधुबनी', मधुबनी
६३) श्री ललित मेहता 'जालौरी,' कोयंबटूर
६४) श्री अमर स्नेह, नवी मुंबई
६५) श्रीमती मीना सतीश दुबे, इंदौर
६६) श्रीमती आभा पूर्वे, भागलपुर
६७) श्री ज्ञानोत्तम गोस्वामी, मुंबई
६८) श्रीमती राजेश्वरी विनोद, नवी मुंबई
६९) श्रीमती संतोष गुप्ता, नवी मुंबई
७०) श्री विशंभर दयाल तिवारी, मुंबई
७१) श्री अभिषेक शर्मा, नवी मुंबई
७२) श्री ए. बी. सिंह, निंबोहड़ा, चित्तौड़गढ़
७३) श्री योगेंद्र सिंह भदौरिया, मुंबई
७४) श्री विपुल सेन 'लखनवी', मुंबई
७५) श्रीमती आशा तिवारी, मुंबई
७६) श्री गुप्त राधे प्रयागी, इलाहाबाद
७७) श्री महावीर रवांल्टा, बुलंदशहर
७८) श्री रमेश चंद्र श्रीवास्तव, फतेहगढ़
७९) डॉ. रमाकांत रस्तोगी, मुंबई
८०) श्री महीपाल '[illegible]रिया, मेघनगर, झाबुआ (म. प्र.)
८१) श्रीमती कल्पना बुद्धदेव 'व्रज', राजकोट
८२) श्रीमती लता जैन, नवी मुंबई
८३) श्रीमती श्रुति जायसवाल, मुंबई
८४) श्री लक्ष्मी सरन सक्सेना, कानपुर
८५) श्री राजपाल यादव, धनबाद
८६) श्रीमती सुमन श्रीवास्तव, नयी दिल्ली
८७) श्री ए. असफल, भिंड (म. प्र.)
८८) डॉ. उर्मिला शिरीष, भोपाल
८९) डॉ. साधना शुक्ला, फतेहगढ़
९०) डॉ. त्रिभुवन नाथ राय, मुंबई
९१) श्री राकेश कुमार सिंह, आरा (बिहार)
९२) डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी, भुज-कच्छ
९३) डॉ. उमाकांत बाजपेयी, मुंबई
९४) श्री नेपाल सिंह चौहान, नाहरपुर (हरि.)
९५) श्री रूप नारायण तिवारी 'वीरान', बिलासपुर

With Best Compliments from

TIIC

THE INTERNTIONAL INDENTING CORPORATION

231, Sardar Griha, 198, L.T. Marg,
Craford Market, Mumbai - 400 002.
Tel. : 208 7551, 200 7555
Fax : 91-22-373 88532, 203 2452
E-mail : tiic@bom3.vsnl.net.in

आर. एन. आई. पंजीकरण संख्या : ३५७६४/७९

देना बैंक के साथ
घर घर में खुशहाली

देना बैंक
DENA BANK
(A Government of India Undertaking)

मंजुश्री द्वारा संपादित व *आर्ट होम*, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.